कबीर और जायसी का रहस्यवाद
तुलनात्मक विवेचन

लेखक
डॉक्टर गोविन्द त्रिगुणायत
एम० ए० पी-एच० डी०
अध्यक्ष संस्कृत-विभाग
के० जी० के० कालिज मुरादावाद

साहित्य सदन, देहरादून

प्रकाशक
जैनेन्द्रकुमार
साहित्य सदन, देहरादून।

मूल्य चार रुपये

मुद्रक
हिन्दुस्तानी प्रेस, दिल्ली।

प्राक्कथन

कबीर और जायसी दोनो ही हिन्दी-साहित्य के सुन्दर रहस्यवादी कलाकार है। दोनो ने अपनी-अपनी रहस्य-भावना रूपी वधुओ की झाँकी अपने-अपने ढग पर सँवारी है। वे दोनो वधुएँ रहस्यात्मकता की दृष्टि से समान होते हुए भी आत्मा की दृष्टि से एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है। कबीर की रहस्यात्मकता भारतीय हठयोग और औपनिषदिक विचार धारा के सुहाग से सम्भूत होने के कारण पूर्ण भारतीय है। गुरुवर स्वामी रामानन्द की शिक्षा-दीक्षा ने उसे और भी सयत और गम्भीर बना दिया। ये बात दूसरी है कि उस पर चलते-फिरते थोडा-बहुत प्रभाव सूफी साधना का भी पड गया हो। किन्तु उसका सम्पूर्ण सौन्दर्य और समस्त निष्ठाएँ ठीक उसी प्रकार की है जैसी आदर्श भारतीय वधूओ में पाई जाती है। उन्ही के समान वह लज्जाशीला है। उन्ही के सदृश वह मार्यादाप्रिय है। उनकी जैसी ही एकान्तप्रिय उसकी रुचि है। इसके विपरीत जायसी की रहस्य-भावना वेश-भूषा में भारतीय दिखाई पडने पर भी भारतीय नही है। अभारतीय सूफी-साधना और भारतीय अद्वैतवाद के सयोग से उत्पन्न उनकी रहस्य-भावना कुछ बातो में भारतीय और कुछ बातो में अभारतीय है। अपनी पारसीक माँ सूफी-साधना और मासियो सुरति और सुरा के करो द्वारा लालित-पालित होने के कारण वह भी उन्हीके सदृश उच्छृङ्खल विलासप्रिय और भाव-प्रवण है।

उसमें अपने भारतीय पिता अद्वैतवाद और [illegible] की भी कुछ विशेषताएँ वर्तमान हैं। अद्वैत भावना इन सबमें प्रधान है। ये दोनों वधुएँ हिन्दी साहित्य के आँगन में युगों से खड़ी हुई हैं। मर्यादाप्रिय भारतीय आचार्य उनके घूँघट के उद्घाटन का साहस नहीं कर सके। आचार्य शुक्ल ने जायसी की रहस्य भावना के घूँघट को उघारकर उसकी मधुर झाँकी देखने की थोड़ी चेष्टा की थी। किन्तु उनकी स्वाभाविक संकोचशीला और मर्यादाप्रिय दृष्टि उसके सम्पूर्ण सौन्दर्य को देखे बिना ही ठिठक गई। उसके बाद फिर किसी ने उसके रूप के रहस्योद्घाटन का साहस ही नहीं किया। कबीर की रहस्य-भावना भी बहुत दिनों तक उपेक्षिता बनी रही। एक दिन एक भावुक कुमार से न रहा गया और उसने उसका घूँघट उघार ही दिया। उसके अनिर्वचनीय लावण्य से साहित्य-जगत् की आँखें चकाचौंध हो गईं। उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा। बालक स्वभावतः अनुकरणशील होते हैं। इसीलिए बहुत-से चपल बालक कुमार के पद-चिह्नों पर चलने के लिए अधीर हो उठे। ऐसे बालकों का ही एक पिछलग्गा इस पुस्तक का प्रणेता भी है। उसकी साधना द्विमुखी है। उसने उपर्युक्त दोनों वधुओं की झाँकी देखने की चेष्टा की है। किन्तु 'आचार्य' और 'कुमार' के पहुँचे हुए प्रयासों के समक्ष इस लेखक के बाल प्रयास का स्थान ठीक वैसा ही समझना चाहिए जैसा सूर्य और चन्द्र की ज्योति के सामने दीपक की टिमटिमाहट होती है। परन्तु दीपक का भी एक अलग अस्तित्व एवं महत्त्व होता है। जिन कक्षों तक चन्द्र और सूर्य की रेखाएँ नहीं पहुँचती दीपक उन कक्षों को भी ज्योतिर्मय कर देता है। इसी प्रकार मुझे विश्वास है कि मेरी रचना की स्वर-लहरी उन हृदयों तक भी पहुँचेगी जिन तक 'आचार्यजी' और कुमारजी' की वाणी भी नहीं पहुँच सकी है।

प्रस्तुत रचना समय-समय पर देखी गई तीन झाँकियों की विवेचनात्मक अभिव्यक्ति है। यद्यपि लेखक अच्छी तरह से समझता है कि

असीम की अनुभूतियो को असीम शब्दो में बन्दी नही बनाया जा सकता किन्तु अनिर्वेद्य को निर्वेद्य बनाने की कामना का सवरण भी वह नही कर सका । उसीके फलस्वरूप तीन रचनाओ का यह सकलन आपके सामने प्रस्तुत है। यह तीनो रचनाएँ सर्वप्रथम भाषणो के रूप में अवतरित हुई थी लेखक ने भाषणपरक अशो को काट-छाँट कर उन्हे विस्तृत विवेचनात्मक निबन्धो का रूप दे दिया है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियो में लिखी जाने के कारण तीनो में पारस्परिक सामजस्य की सफल प्रतिष्ठा नही हो पाई है । इसकी लेखक को कोई आवश्यकता भी नही प्रतीत होती। तीनो रचनाएँ अपने में पूर्ण होने के कारण एक-दूसरे को अपेक्षा नही रखती।

अब मैं उन विद्वानो और मित्रो के प्रति आभार प्रकट कर देना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ जिनकी कृपा, प्रेरणा और प्रोत्साहन से मैं इस ग्रन्थ की रचना करने में समर्थ हुआ हूँ। सबसे प्रथम पूज्यपाद गुरुवर पडित अयोध्यानाथजी शर्मा को अनेकधा भक्तिपुरसर प्रणाम करता हूँ । उनके आशीर्वाद का ही यह सुमधुर फल है। हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डाक्टर रामकुमार वर्मा का भी मैं अत्यधिक ऋणी हू । ग्रन्थ रचना में उनकी मूक प्रेरणा सदैव ही जागरूक रही है। सबसे अधिक धन्यवाद के अधिकारी सुहृद डाक्टर हरवसलालजी शर्मा है । इस ग्रन्थ के मूल प्रेरक वे ही है। उन्होंने ही आग्रहपूर्वक कबीर और जायसी के रहस्यवाद पर अपने यहाँ मेरे भाषण का आयोजन कराया था और मुझे इस विषय पर एक स्वतत्र ग्रन्थ लिखने के लिए प्रेरित किया था। उनके आग्रह का पालन तो हो गया, किन्तु मै उसमें कहाँ तक सफल हुआ हू इसका निर्णय तो लोग ही करेगे। अन्त में मैं देश-विदेश के उन विद्वानो के प्रति विद्वान्

कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनके ग्रन्थों की सहायता के बिना यह ग्रन्थ लिखा ही नहीं जा सकता था।

शिव सदन
मुरादाबाद।

—लेखक

विषय-क्रम

भूमिका

रहस्यवाद अध्यात्म की साहित्य-संसार को महान् देन है। आज-कल जिस रूप में उसकी प्रतिष्ठा मिलती है, प्राचीन काल में वह उस रूप में मान्य नही था। वास्तव में रहस्यवाद का जन्म मानव और ईश्वर के जन्म के साथ-ही-साथ हुआ होगा। मानव की अपने ईश्वर के प्रति भावमय तादात्म्य-कामना तथा उससे सम्बन्धित सुकोमल भावनाएँ अनादि काल से किसी-न-किसी रूप में व्यक्त होती आ रही है। वर्तमान रहस्यवाद का प्रासाद उन्हीकी आधार-भूमि पर आधारित प्रतीत होता है।

वैदिक रहस्यवाद : प्राचीन भारत में रहस्य-भावना का उदय ब्रह्म विद्या या उपनिषद् विद्या के रूप में हुआ था। जिस प्रकार उपनिषद् गुह्यातिगुह्य ब्रह्म-तत्त्व की खोज और प्रत्यक्षीकरण में प्रयत्नवान दिखलाई पडते हैं; उसी प्रकार साहित्य का रहस्यवाद भी उस परोक्ष प्रियतम की मधुर कथा कहता पाया जाता है। उपनिषद् विद्या और रहस्यवाद में आधार-भूमि-सम्बन्धी साम्य भी है। दोनो ही सर्वात्मवाद और अद्वैतवाद की दृढ भूमिका पर प्रतिष्ठित है। दोनो में जो थोडा-बहुत अन्तर दिखलाई पडता है उसका कारण उनका लक्ष्य-भेद है। उपनिषद् विद्या का लक्ष्य ज्ञानरूप ब्रह्म का निरूपण करना है। रहस्य-वाद में भावविनिर्मित ईश्वर की ही प्रतिष्ठा पाई जाती है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते है कि एक का विस्तार-क्षेत्र ज्ञान था, और दूसरे का भाव।

तान्त्रिक धारा : औपनिषदिक रहस्यवाद के अतिरिक्त भारतवर्ष में रहस्यवाद की एक धारा और भी पाई जाती है; वह है योग की।

वास्तव में योग एक स्वतन्त्र साधना-मार्ग है। किन्तु यह इतना गुह्य और रहस्यात्मक है कि उसकी व्याख्यात्मक शैली में अभिव्यक्त की हुई बातें भी रहस्यवाद की सीमा के अन्दर मानी जाने लगी हैं। रहस्यवाद की इस धारा ने भी हिन्दी-साहित्य के रहस्यवादियों को प्रभावित किया है। उनके रहस्यवाद का स्वरूप निर्धारित करते समय इस बात को कभी भूलना नहीं चाहिए।

ईसाई और सूफी धारा - रहस्यवाद का विकास ईसाई और यहूदी मतों में भी हुआ है। किन्तु उसका यह रूप भारतीय स्वरूप से बहुत भिन्न था। भारतीय रहस्य-भावना भारतीय रमणी की भाँति अधिक संयत, मर्यादित और ज्ञान-विशिष्ट थी। किन्तु ईसाई और इस्लाम मतों में उदय होने वाली रहस्य-भावना सुरति और सुरा की सहेली होने के कारण अत्यधिक उच्छृङ्खल और विलासपूर्ण थी। उच्छृङ्खलता और विलास की अतिरेकता के कारण उनका अध्यात्म पक्ष बिलकुल क्षीण हो गया। परिणाम यह हुआ कि धर्म के नाम पर घोर व्यभिचार फैलने लगा। यहोवा के कुछ उपासकों में इस तीव्र मादन भाव की प्रतिक्रिया दिखलाई भी दी, किन्तु वे युग के तूफान को रोक न सके और उन्हें भी यहोवा के लिए पत्नी का विधान करना ही पड़ा। यहूदी और मसीही मतों में इस मादन भाव की अभिव्यक्ति किसी-न किसी रूप में बराबर होती रही। इस्लाम की शुष्क और कट्टर भावना से घबराकर बहुत-से सन्तों ने यहूदी और क्रिश्चियन मतों में पाए जाने वाले मादन भाव का आश्रय लेकर तथा उसे अलौकिक रूप देकर अपनी साधना को सरस बनाने की चेष्टा की। उनके लिए उन्होंने लौकिकता में अलौकिकता के दर्शन करने का प्रयास किया। इनका सारा प्रयत्न लौकिक मादन भाव को अलौकिक रूप देने में ही लगा रहा। परिणाम यह हुआ कि इनकी साधना लौकिकता और अलौकिकता के बीच में खो गई। इनमें जिस तीव्र भावना या सरस मादन भाव का प्रभाव दिखलाई पड़ता है

वह कही लौकिक है और कही अलौकिक। यही कारण है कि सूफी रहस्य-भावना लौकिकता की भूमि पर खडी होकर अलौकिकता के गगन को छूने का प्रयत्न किया करती है। इस प्रयत्न का इतिहास ही सूफी रहस्यवाद है। ये सूफी रहस्यवाद भारतीय औपनिषदिक रहस्यवाद से, जो अलौकिक और पवित्र ज्ञान लोक में विचरण करता रहता है, सर्वथा भिन्न है।

हिन्दी के सन्त कवियो में पाया जाने वाला रहस्यवाद उपर्युक्त तीनो धाराओ से प्रभावित है। उसको समझने के लिए पृष्ठभूमि के रूप में इन तीनो धाराओ में पाए जाने वाले रहस्यवाद का स्वरूप और विकास समझ लेना आवश्यक है। इन तीनो धाराओ का सम्यक् विकास दिखाने के लिए बहुत समय और स्थान की आवश्यकता है। यहाँ न तो इतना स्थान ही है, और न अवकाश ही। अतएव हम अत्यन्त सक्षेप में तीनो धाराओ का सकेत-मात्र करेंगे।

वैदिक रहस्यवाद

सहिताओं में : प्राचीन भारतीय साहित्य में हमें रहस्यवाद का शास्त्रीय प्रतिपादन नही मिलता किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि रहस्यवाद भारत के लिए कोई नवीन वस्तु है। वेदो में रहस्य-भावना की सुन्दर अभिव्यक्ति पाई जाती है। वैदिक रहस्य-भावना का उदय दृष्टाओ को दार्शनिक विचिकित्साओ के फलस्वरूप हुआ था। इन विचिकित्साओ की सुन्दर झाँकी हमें 'नासदीय सूक्त' में मिलती है। इसके दृष्टा के अन्तर्गत में इस प्रकार विचिकित्साएँ उठती है—

नासावासीन्नो सदासीत्तदानीं ।
नासीद्रजो नो व्योमा परोयत् ॥
किमावरीव: कुहकस्य शर्म—
न्नम्भ. किमासीद् गहन गभीरम् ॥

अर्थात् तब सृष्टारम्भ में सत् भी नहीं था और असत् भी नहीं था। अन्तरिक्ष न था और उसके परे का आकाश भी न था। ऐसी अवस्था में किसने किस पर आवरण डाला? कहाँ? किसके सुख के लिए? उस समय अगाध जल भी था या नहीं?

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि।
न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः॥
आनीदवातं स्वधया तदेकं।
तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास॥

अर्थात् तब मृत्यु का अस्तित्व न था, अतः द्वारा अमृत पदार्थ का भेद भी न था। इसी प्रकार दिन और रात के भेद को स्पष्ट करने का भी कोई साधन न था। वह एक तत्त्व ही अपनी शक्ति से स्फूर्तिमान था, इसके परे और कुछ भी न था।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रे,
ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छेनाभ्यपिहितं यदासीत्,
तपसस्तन्महि नाऽजायतैकम्॥

अर्थात् जो ऐसा कहा जाता है कि प्रारम्भ में अन्धकार था और उस अन्धकार से आवृत जल था। उस समय अम्भु भी तुच्छ माया से आवृत था। वह मूल तत्त्व अपने तप की महिमा से प्रकट हुआ था।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि,
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्,
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

इसके मन का जो बीज था वही काम कहलाया बुद्धिमानों ने विचार पूर्वक यही निश्चित किया कि यही असत् में और सत् में पहले सम्बन्ध है।

उपर्युक्त मन्त्रों में रहस्यपूर्ण आध्यात्मिक विचिकित्साएँ, अद्वैतवाद का मूल रूप तथा सृष्टि में प्रेम या काम का महत्त्व आदि बातों का, जिनका सम्बन्ध रहस्य-भावना से ही है, वर्णन किया गया है।

'ऋग्वेद' में विराट् ब्रह्मवाद का भी बडा रहस्यात्मक प्रतिपादन मिलता है। पुरुष-सूक्त के कुछ मन्त्र इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। वह विराट् पुरुष सारी पृथ्वी को आक्रान्त करके भी उससे परे है।

सहस्र शीर्षा पुरुष,
सहस्राक्ष. सहस्रपात।
स भूमिं विश्वतो,
त्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥

अर्थात् वह पुरुष सहस्र शीर्ष वाला था। उसकी सहस्र आँखें थी, उसके सहस्र पाणि थे, और उसने पृथ्वी को चारो ओर से आक्रात कर रखा था। किन्तु फिर भी दशांगुल उससे परे था। अगले मन्त्र में अद्वैतता प्रतिपादित करके पुरुष की रहस्यमयता ध्वनित की गई है—

पुरुष एवेदं सर्वं
यद्भूतं यच्च भव्यम्
उतामृतत्वेस्येशानो।
यदन्नेनातिरोहति ॥

अर्थात् वह सब-कुछ पुरुष रूप ही है। आगे जो कुछ होगा वह भी पुरुष रूप ही होगा, और पहले जो कुछ था वह भी पुरुष ही था। वह अमृतत्व का स्वामी था और वह सब-कुछ वही है जो अन्न से उत्पन्न होता है। 'ऋग्वेद' में अद्वैतता का प्रतिपादन वागारम्भणीय सूक्त में बडे भावात्मक ढग से किया गया है। उसके कुछ मन्त्र इस प्रकार हैं—

अह रुद्रेभि वसुमिश्चरा-
म्यहमादित्यैरुत विश्वदेवै ।

अर्थात् विद्या दो प्रकार की होती है—एक अपरा और दूसरी परा। अपरा विद्या के अन्तर्गत चारो वेद और छहो वेदाग गिनाए गए है और ब्रह्म विद्या को परा विद्या कहा गया है। इस परा विद्या का प्रेरक जब तर्क होता है तब उसे अध्यात्म ज्ञान की सज्ञा दी जाती है। और जब उसकी मूल प्रेरिका भावना होती है तब उसे अध्यात्म की अनुभूति कहेगे। उपनिषदो में ब्रह्मानुभूति में तर्क की अप्रतिष्ठा मानी गई है। 'कठोपनिषद्' में स्पष्ट लिखा है —

नैषा मति तर्केणापनेया।

अब प्रश्न है फिर उसकी अनुभूति या ज्ञान कैसे प्राप्त हो। इस पर 'कठोपनिषद्' में लिखा है—

नः नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञयो बहुधा चिन्त्यमान.।
अनन्य प्रोक्तेगतिरत्र नास्ति
अणीयान्ह्यतर्क्यमणु प्रमाणात्॥

अर्थात् कई प्रकार से विवेचित आत्मा नीच पुरुष द्वारा उपदिष्ट होने पर बोधगम्य नही हो सकता। अभेददर्शी आचार्य द्वारा उपदेश किये जाने पर आत्मा अस्ति-नास्ति रूप अनुभव होता है। यह आत्मा सूक्ष्म परिणाम वालो से भी सूक्ष्म और दुर्विज्ञेय है। इस उद्धरण में दृष्टा ने आत्म-ज्ञान के उपदेश के योग गुरु का सकेत किया है। वास्तव में अभेददर्शी गुरु ही ब्रह्म ज्ञान देने का अधिकारी कहा जा सकता है।

'छान्दोग्योपनिषद्' मे भी ब्रह्म विद्या की प्राप्ति एक-मात्र गुरु से ही मानी गई है। सत्यकाम अपने गुरु से कहता है—

श्रुत ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यः आचार्याद्ध्येव विद्या विदिता साधिष्ठ प्राप्स्यतीति।[1]

---

१ ४।६।३।

अर्थात् सुयोग्य आचार्य के द्वारा साधना-मार्ग में दीक्षित किये जाने पर ही साधक अपने साध्य तक पहुँच सकता है। क्योंकि साधना-पथ (क्षुरस्य धारा) छुरी की धारा के सदृश तीक्ष्ण, दुर्गम एवं दुर्ज्ञेय माना जाता है—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।
दुर्गम पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥[1]

श्रुतियों में सद्गुरु के आवश्यक गुणों का विविध प्रकार से संकेत किया गया है। 'मुण्डकोपनिषद्' में लिखा है कि रहस्य-विद्या उसी गुरु से ग्रहण करनी चाहिए जो वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ है।

तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥[2]

अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए समित्पाणि होकर वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए। इसी प्रकार अन्य श्रुतियों में भी सद्गुरु की महिमा का संकेत किया गया है।

श्रुतियों में साधक के पात्रत्व और अधिकारित्व पर भी विशेष बल दिया गया है। रहस्य-विद्या सब नहीं ग्रहण कर सकते हैं। ब्रह्म-ज्ञान का अधिकारी वही शिष्य माना जा सकता है जो पाप-कर्मों से मुक्त हो चुका है और जिसका मन शान्त व स्थिर है। इसी बात को कठोपनिषद्-कार ने इस प्रकार कहा है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहित।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनम् आप्नुयात् ॥[3]

'मुण्डकोपनिषद्' में लिखा है कि ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए शिष्य को सत्यनिष्ठ, ब्रह्मचारी, तपस्वी और सम्यक् ज्ञान विशिष्ट भी होना चाहिए।

सत्येनलभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ॥[4]

---

१. १।३।१४। २ १।२।४। ३ १।२।२४। ४ ३।१।५।

उपनिषदों में रहस्यमय की अनुभूति तक पहुँचाने वाले बहुत-से मार्ग निर्देशित किये गए है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में धर्म के तीन पक्ष बतलाए गए हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान।

धर्मस्य त्रयः स्कन्धा. यज्ञोऽध्ययनं दानम्।

भक्ति और तपस्या को हम यज्ञ रूप मान सकते है। दान को कर्म एव योग का प्रतीक लिया जा सकता है। अध्ययन से ज्ञान का अभिप्राय है। उपनिषदों में इन तीनों साधनों का उल्लेख और भी कई स्थलों पर मिलता है। 'वृहदारण्यकोपनिषद्' की निम्न लिखित पंक्ति में भी उपर्युक्त तीन साधनों का सकेत-सा मालूम पडता है—

आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

अर्थात् आत्मा साक्षात्कार करने योग्य, श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य और ध्यान करने योग्य है।

ज्ञान-काड का प्रतिपादन करते हुए भी उपनिषद् भक्ति-मार्ग की उपेक्षा नहीं कर सके हैं। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में स्पष्ट लिखा है कि जब तक उस रहस्यमय में साधक की भक्ति नही होती तब तक वह उसका साक्षात्कार नही कर सकता—

यस्य देवे परा भक्ति यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिताह्यर्था. प्रकाशन्ते महात्मन.॥[1]

अर्थात् जिसकी परमात्मा में उत्तम भक्ति है और परमात्मा के समान ही गुरु में भक्ति है वही सब-कुछ जान लेता है। उपनिषदों में योग का भी विस्तार से उल्लेख किया गया है। 'कठोपनिषद्' में स्पष्ट लिखा है कि उस रहस्यमय देव को आध्यात्म योग से जानकर साधक हर्ष व शोक से रहित हो जाता है—

"आध्यात्मयोगाधि गमेन देवमत्वा धीरो हर्ष शोको जहाति।"[2]

---

१ ६।२।३। २ १।२।१२।

यह अध्यात्म योग वास्तव में इन्द्रिय धारण रूप है—

ता योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगोहि प्रभवाप्ययौ ॥[1]

अध्यात्म योग के अतिरिक्त उपनिषदो में हठ, लय, मन्त्र और राजयोग के भी वर्णन मिलते हैं। देखिए 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में मन्त्रमूलक समाधि योग का कैसा सुन्दर वर्णन किया गया है—

तस्मादेव विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षु ।
समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति ॥[2]

अर्थात् इस प्रकार जानने वाला इन्द्रियां और मन का संयम करके उपराम वृत्ति धारण कर तितिक्षु होकर समाधि परायण हो अपने अन्दर आत्मा को देखता है। इसी प्रकार 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' (२।१४।१५।-२।८।६) 'मुण्डकोपनिषद्' (२।२।५ ६) में योग के विस्तृत वर्णन पाए जाते हैं। इनमें से अधिकांश वर्णन साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत आयेंगे।

अब रही ज्ञान-मार्ग की बात, उसके तो उपनिषद प्रधान प्रवर्तक माने ही जाते हैं। उनमें विविध विद्याओ का वर्णन ज्ञान, साधन एव उपासना के रूप में ही किया गया है। उपनिषदो में वर्णित निम्नलिखित विद्याएँ विशेष रूप से विचारणीय हैं। क्योंकि उनकी प्रतिष्ठा उनमें ज्ञान-प्रधान उपासना के रूप में हुई है—

(१) उद्गीथ विद्या (२) सवर्ग विद्या
(३) मधु विद्या (४) पचाग्नि विद्या
(५) उपकोशल आत्मविद्या (६) शाण्डिल्य विद्या
(७) भूम विद्या (८) दहर विद्या
(९) दीर्घायुष्य विद्या (१०) मन्थ विद्या

यहाँ पर हम अत्यन्त सक्षेप में इनका सकेत कर देना चाहते हैं—

१ २।६।११। २ ४।४।२३।

(१) उद्गीथ विद्या : इसको हम प्रणव-साधना भी कह सकते हैं। प्रणव अर्थात् 'ॐ' परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ नाम है। इसके द्वारा भाव पूर्वक भगवान् का कीर्त्तन किया जा सकता है। इसीलिए प्रणव को उद्गीथ भी कहते हैं। प्रणव की साधना से साधक वाक् और प्राण का तादात्म्य स्थापित करता है। रहस्यमय की प्राप्ति का यह मार्ग बड़ा सरल और भावमय है। ससार के सभी श्रेष्ठ रहस्यवादी इसका अनुसरण करते रहे हैं।

(२) सवर्ग विद्या : सवर्ग विद्या भी भावना-प्रधान साधना मानी जा सकती है। सवर्ग का अर्थ होता है अन्तर्मुक्त कर लेना। सब का अन्तर्मुक्त करने वाला एक परमात्मा है। अत उसकी भक्ति करना ही एकमात्र साधन है।

(३) मधु विद्या : मधु विद्या भी एक प्रकार की रहस्य-साधना है। इसके अनुयायियो का कहना है कि आदित्य ही सबको मधु प्रदान करने वाला है, अत मधु स्वरूपी ब्रह्म की प्राप्ति आदित्य की उपासना से हो सकती है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में इस मधु-विद्या का उल्लेख मिलता है।

(४) पंचाग्नि विद्या : इसकी चर्चा 'कठोपनिषद्' और 'बृहदारण्यको-पनिषद्' में की गई है। पचाग्नि साधना का सबध ज्ञान-मार्ग से अधिक है। पचाग्नि विद्या का स्वरूप श्वेतकेतु ने प्रवाहण राजा से जैसा सुना था वह इस प्रकार है—'यह लोक अग्नि है इसको प्रज्वलित करने के लिए सूर्य लकडी है। उसकी किरण धूम है, दिन ज्वाला है, दिशाएँ अगार हैं तथा अवान्तर दिशाएँ स्फुलिंग हैं। इस अग्नि में देवता लोग श्रद्धारूपी हवि का हवन करते हैं। इस हवन से सोम की उत्पत्ति होती है। श्रुति कहती है कि यहाँ श्रद्धा जलस्वरूप है। अतएव देवता जल-समूह मेघ रूप अग्नि में सोम चन्द्रमा को, लोक रूप अग्नि में वृष्टि को और वृष्टि से उत्पन्न अन्न को पुरुष रूप अग्नि में जलाते हैं। उससे वीर्य उत्पन्न होता है उसका हवन स्त्री रूप अग्नि में होता है। मनुष्यों की

उत्पत्ति में लोक, मेघ पुरुष और स्त्री कारण है। पुरुष और स्त्री को चिता की आग भस्म करती है। यही पाँच अग्नियाँ है, इन्हींमें परमात्मा व्याप्त है। इनके द्वारा जो परमात्मा को जानता है वह नित्य मुक्त हो जाता है। वेदान्त में इस पचाग्नि विद्या का बडा विस्तार है। इसका ज्ञाता पुनरावृत्ति-हीन मुक्ति को प्राप्त होता है।

(५) *उपकोशल आत्म विद्या* : इसे हम मनन प्रधान विद्या कह सकते है। सत्यकाम ने अपने शिष्य जाबालि को जब ब्रह्मोपदेश नही दिया तो उसने तपस्या करके अपनी अग्नियो से उपदेश प्राप्त किया है। वह उपदेश था 'प्राणोब्रह्म क ब्रह्म ख ब्रह्म।' इसी मत्र का मनन करता हुआ साधक ब्रह्म-प्राप्ति में समर्थ होता है।

(६) *शाडिल्य विद्या* इस विद्या का उल्लेख 'छान्दोग्योपनिषद्' में किया गया है। शाडिल्य ने परमात्मा को अनत करुणा-सम्पन्न माना है। इस विद्या के साधक को समस्त ब्रह्माण्ड को ही ब्रह्म समझकर उसकी उपासना करनी चाहिए, क्योकि यह ब्रह्माण्ड उसीसे सम्भूत हुआ है, उसीसे जीवित रहता है और उसीमें लीन हो जाता है। इस प्रकार की साधना ही शाडिल्य विद्या है।

(७) *भूम विद्या* : इस विद्या का उल्लेख भी 'छान्दोग्योपनिषद्' में ही मिलता है। इसका वर्णन 'छान्दोग्योपनिषद्' में निम्नलिखित शब्दो में किया गया है—

यो वै भूमा तत्सुख नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम् भूमात्वेवविजज्ञासितव्य अर्थात्—भूमा ही सुख है। ससीम में सुख नही होता है। उस भूम रूपी असीम में ही सुख है। अतएव उस भूम अर्थात् अनन्त की ही खोज करनी चाहिए। यही भूम विद्या है।

(८) *दहर विद्या* : इस विद्या में हमें योग और उपासना का समन्वित स्वरूप-सा मिलता है। इसका वर्णन 'छान्दोग्योपनिषद्' में किया गया है। उसमें लिखा है—

यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहर पुण्डरीक वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराका स्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम् ।[१]

अर्थात् मनुष्य का शरीर ही ब्रह्मपुर है । उसका दहर हृदयकमल भगवान् का निवास-स्थान है । उसीमें परमात्मा को खोजना चाहिए, इस दहर निवासी परमात्मा की उपासना दहर विद्या कहलाती है । कबीर आदि साधको की रहस्य-साधना दहर विद्या से मिलती-जुलती है ।

(९) *दीर्घायुष्य विद्या* : इस विद्या का भी सकेत 'छान्दोग्योपनिषद्' में किया गया है । इसमें ब्रह्म-ज्ञान के सहारे आयु-विस्तार का वर्णन मिलता है ।

(१०) *मन्थ विद्या*: इसे हम निष्काम विद्या कह सकते है । इसका सकेत 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में किया गया है । इस विद्या का लक्ष्य साधक को निष्काम उपासना की ओर प्रेरित करना है । इस प्रकार उपनिषदो में विविधज्ञानमूलक एव उपासना-प्रधान साधनाओ का उल्लेख किया गया है । ये साधना-पथ वास्तव में बडे ही रहस्यपूर्ण है । उनके रहस्यो का उद्घाटन करने का न तो यहाँ स्थान ही है, और न आवश्यकता ही । किन्तु उपनिषदो का रहस्यवाद बहुत-कुछ इनके आश्रय से भी विकसित हुआ है ।

उपनिषदो में ब्रह्म का वर्णन भी विविध प्रकार से विविध शैलियो में किया गया है । रहस्यमय परमात्मा के ये वर्णन बडे ही रहस्यात्मक है । स्थूल रूप से यह वर्णन दो प्रकार के है —

१—स्वानुभूतिमूलक ।
२—बुद्धि मूलक ।

१ स्वानुभूतिमूलक वर्णन रहस्यवाद के अन्तर्गत आते है । यह स्वानुभूतिमूलक वर्णन रानडे साहब के अनुसार चार प्रकार के है । उन्होने अपने प्रसिद्ध ग्रथ—'A Constructive Survey of the

१. ८।१।१ ।

Upenishadic Philosophy' में Mysticism वाले अध्याय में पृष्ठ ३४३ पर इन अनुभूतियों का वर्णन करते हुए लिखा है —

"Four types of experience of the whole are to be scattered in the Upanishadas which bear respectively of the forms, the colours, the sounds, and light which are experienced by the mystics in the process of contemplation."

अर्थात् "उपनिषदों में चार प्रकार की रहस्यानुभूतियाँ बिखरी मिलती है, जिनका सम्बन्ध क्रमश: रूप, रंग, शब्द और प्रकाश से है।" हमारी समझ में उपनिषदों में केवल चार प्रकार की रहस्यानुभूतियाँ ही नहीं मिलती है वरन् वे उन समस्त प्रकार की रहस्यानुभूतियों का कोष है जिनकी किसी भी रहस्यवादी ने कभी भी अनुभूति की होगी। यहाँ पर हम उपर्युक्त चार प्रकार की रहस्यानुभूतियों का परिचय कराकर कुछ अन्य प्रकार की रहस्यानुभूतियों का संकेत कर अपने मत की पुष्टि करेंगे। रूपाकार-सम्बन्धी अनुभूतियों की चर्चा 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' की निम्नलिखित पंक्तियों में की गई है—

नीहार धूमार्कानिलानिलाना खद्योत विद्युत्स्फटिक शशिनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्ति कराणि॥[1]

अर्थात् योग-साधना करने पर उस ब्रह्म की अनुभूति नीहार, धूम, सूर्य, अग्नि, वायु, जुगनू, बिजली, स्फटिक और चन्द्र के रूप में हुआ करती है। इसी प्रकार श्रवणेन्द्रिय से सम्बन्धित अनुभूतियाँ भी मिलती हैं। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में शब्द रूप में ब्रह्मानुभूतियों का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

अयमग्निर्वैश्वानरो योयमंत
पुरुषे येनदमंत्र पच्यते

१. २।११।

यदिदमद्यते तस्यैष घोषा
भवति यमेत्ककर्णावपिधाय
शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्
भवति नैन घोष शृणोति।[1]

अर्थात् शब्द पचन क्रिया और भोजन क्रिया का परिणाम है। कोई भी मनुष्य इन्हे अपनी आंख बन्द करके सुन सकता है। किन्तु जब मनुष्य मरने लगता है तब वह ध्वनियाँ नही सुन पाता है। इसी प्रकार 'छन्दोग्योपनिषद्' में (३।१३।०।) भी लिखा है कि अपने अन्तर में आँखें बन्द करके सत्यानुभूति की जा सकती है। यह सत्यानुभूति विविध प्रकार की ध्वनियो के रूप में होती है। कभी तो बैल के गर्जन के सदृश, कभी वज्र-नाद की तरह और कभी अग्नि जलने के सदृश ध्वनियाँ सुनाई पडती है। उपनिषदो में ब्रह्म की अनुभूति प्रकाश के रूप में भी वर्णित की गई है। 'मुण्डकोपनिषद्' में ज्योतिस्वरूपी ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

हिरण्मये परे कोशे विरज ब्रह्म निष्कल तच्छुभं
ज्योतिषा ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः।[2]

अर्थात् हिरण्यमय स्वच्छ कोश पर निष्कल ब्रह्म जो ज्योतियो में श्रेष्ठ ज्योति है, विराजमान मालूम पडता है। आत्मज्ञानी लोग इसकी अनुभूति करते है। इस प्रकार उपनिषदो में ब्रह्म की उपर्युक्त चार प्रकार की ऐन्द्रिक अनुभूतियो के सैकडो वर्णन मिलते है। उपनिषदो में स्पर्श-सम्बन्धी वर्णनो की कमी नही है। किन्तु इस प्रकार के वर्णन बहुत रहस्यपूर्ण है। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में एक स्थल पर कहा गया है कि वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है, किन्तु फिर भी जिस-जिस शरीर को धारण करता है उसमें वह रक्षित रहता है।

---

१. ५।६।१। २ २।२।६।

रहस्यवादी साधक रहस्यमय की अनुभूतियाँ प्राय बुद्धि-क्षेत्र में भी करते है। बुद्धि-क्षेत्र से सम्बन्धित अनुभूतियाँ ऐन्द्रिक अनुभूतियों से विलक्षण होती है। इस प्रकार की बुद्धिमूलक अनुभूतियाँ दर्शन-और रहस्यवाद के मध्य की वस्तु है। कभी तो वह बुद्धि की अतिरेकता दर्शन की निधि प्रतीत होती है और कभी-कभी भावना के अतिरेक से रहस्यवाद के समीप आ जाती है। इस कोटि की अनुभूतियों का वर्णन उपनिषदो में प्रधान रूप से निम्न लिखित रूपों में मिलता है—

(१) विरोधात्मक रूप में।
(२) निषेधात्मक रूप में।
(३) विभावनात्मक रूप में।
(४) अनिर्वचनीय रूप में।
(५) विराट् ब्रह्म के रूप में।

(१) *विरोधात्मक वर्णन*—उपनिषदो में ब्रह्म के अनेक विरोधात्मक वर्णन मिलते है। उदाहरण के लिए हम 'ईशावास्योपनिषद्' का यह वर्णन ले सकते है—

आसीनोदूर व्रजति शयानो याति सर्वत ।[1]

अर्थात् वह रहस्यमय ब्रह्म स्थित होते हुए भी दूरगामी है और सोता हुआ भी सर्वगामी है।

(२) *निषेधात्मक वर्णन*—उपनिषदो में ब्रह्म का वर्णन निषेधात्मक शैली में भी किया गया है। उदाहरण के लिए हम 'श्वेताश्वतर उपनिषद् का यह वर्णन ले सकते है—

"नैव स्त्री न पुमानेष नचैवाय नपु सक"

अर्थात् वह स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है।

(३) *विभावनात्मक वर्णन*—उपनिषदो में ब्रह्म के अनेक विभावनात्मक वर्णन मिलते हैं।

---

१. ५।१०।

"अपाणिपादोजवनोग्रहीता' वाली उक्ति तो लोक में बहुत प्रसिद्ध है। इस प्रकार की सैकडो विभावनात्मक उक्तियाँ उपनिषदो में भरी पड़ी है।

(४) *अनिर्वचनीय रूप वाला वर्णन*—उपनिषदो का नेतिवाद तो बहुत प्रसिद्ध है ही। नेतिवाद वास्तव में अनिर्वचनीयतावाद है। जब उपनिषद् ब्रह्म को वाणी के जाल में बांधने का प्रयत्न करते-करते थक जाते है और उसे बाँध नही पाते तभी उन्हे नेतिवाद का आश्रय लेना पडता है। उपनिषद नेतिवाद के वर्णनो से भरे पडे है।

(५) *विराट्ब्रह्म के वर्णन*—ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अनुकरण पर विराट् ब्रह्म के वर्णन उपनिषदो में भी मिलते है-

अग्निर्मूर्धा, चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ, दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः।
वायु प्राणो हृदय विश्वमस्य पद्भ्या पृथ्वी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

अर्थात् उस विराट् ब्रह्म की मूर्धा अग्नि है, सूर्य और चन्द्र उसकी आँखे है। दिशाएँ कान है। विवृत वेद उसकी वाणी है। वायु प्राण है। यह विश्व उसका हृदय रूप है। समस्त पृथ्वी उसके चरणो से आक्रान्त है। वह सर्व भूतो की अन्तरात्मा में निवास करता है।

अगुष्ठ प्रमाणी ब्रह्म का वर्णन—उपनिषदो ने ब्रह्म का अगुष्ठ प्रमाणी ज्योति के रूप में भी वर्णन किया है। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में इसका वर्णन 'अगुष्ठमात्रो रवि तुल्यारूपा' कहकर किया गया है। 'कठोपनिषद्' में इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है–'अगुष्ठमात्र पुरुषोन्तरात्मा सदा जननांहृदये सन्निविष्ट."[1] इस प्रकार उपनिषदो में उस ब्रह्म रूप परमात्मा के भावात्मक और बुद्धिमूलक दोनो प्रकार के वर्णन किये है। कबीर आदि साधको में हमें दोनो प्रकार के वर्णनो की बहुलता मिलती है। इन वर्णनो के प्रभाव से कही दार्शनिक ढग के रहस्यवाद की अच्छी सृष्टि हुई है।

१ २।६।१७

उपनिषदों में हमें इन विविध प्रकार की भावात्मक और बुद्धि-मूलक अनुभूतियों के साथ-साथ भावातिरेकता की स्थिति के भी, जो रहस्यानुभूति का प्राण है, वर्णन मिलते हैं। रानाडे साहब ने इसके उदाहरण में 'मुण्डकोपनिषद्' का निम्नलिखित उद्धरण दिया है:—

ब्रह्मैवेदममृत पुरस्ताद् ब्रह्म, पश्चात् ब्रह्म, दक्षित-
श्चोत्तरेण अधश्चोर्ध्वं प्रसृत ब्रह्मैवेद विश्वमिद वरिष्ठ।[1]

अर्थात् "ब्रह्म हमारे सामने है ब्रह्म हमारे पीछे है। ब्रह्म हमारी बाईं ओर है, दाहिनी ओर है, वही ऊपर है, नीचे है, वही श्रेष्ठातिश्रेष्ठ ब्रह्माण्ड है" यह उक्ति दृष्टा की भावातिरेकता स्पष्ट व्यञ्जित करती है।

उपनिषदों में रहस्यानुभूति की स्थिति के भी बड़े मनोरम चित्र मिलते हैं। 'मुण्डकोपनिषद्' में लिखा है —

तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा।
आनन्दरूप अमृत यद्विभाति॥

अर्थात् उसको जानकर धीर साधक आनन्द रूप अमृतत्व का अनुभव कर लेते हैं। इसी प्रकार 'कठोपनिषद्' में भी लिखा है—निचाय्य त मृत्यु मुखात् प्रमुच्यते।[2] अर्थात् उसे साक्षात् जानकर पुरुष मृत्यु के मुख से छूट जाता है। इसी श्रुति में दूसरे स्थल पर इस अवस्था का वर्णन कुछ हेर-फेर के साथ दूसरे शब्दों में किया गया है—ब्रह्मप्राप्तोविरजोऽभूद्विमृत्यु।[3] अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त हुआ पुरुष विरज (शुद्ध) और विमृत्यु (अमर) हो गया।' इसी प्रकार अन्य श्रुतियों में भी ब्रह्मानुभूति के प्रभावों का वर्णन किया गया है। इस कोटि के कुछ वर्णन तो शुष्क, नीरस और वर्णनात्मक होने के कारण दर्शन की सीमा के अन्तर्गत आयेंगे। किन्तु कुछ काव्यात्मक एव भाव-प्रधान वर्णन रहस्यवाद की विभूति कहे जायेंगे।

अब थोडा-सा औपनिषदिक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति पर विचार

१. २।२।११। २ ३०१।३।१५। ३ ३०२।३।१८।

कर लेना चाहिए। रहस्यवाद के असीम को ससीम शब्दो में बाँधना वास्तव में सदा से कठिन रहा है। यही कारण है कि ब्रह्मज्ञ दृष्टाओ को भी अपनी रहस्यात्मक अनुभूतियो की अभिव्यक्ति के लिए अभिव्यञ्जना की कुछ विलक्षण प्रणालियो का आश्रय लेना पड़ा है। 'ऋग्वेद' में ही इस कोटि की प्रणालियो का विकास हो चला था। अध्यात्म अभिव्यक्ति की एक प्रणाली विरोधात्मक चमत्कार-प्रधान होती है। सन्त कवियो की उलटवासियाँ उन्हीके आधार पर विकसित हुई है। 'ऋग्वेद' में अदिति का वर्णन इसी प्रणाली में किया गया है। कुछ स्थलो पर अग्नि का वर्णन भी इसी शैली में मिलता है। 'ऋग्वेद' में रूपकात्मक और विभावनात्मक तथा विरोधात्मक शैलियो के भी विविध उदाहरण मिलते हैं। रूपकात्मक शैली का एक सुन्दर उदाहरण यह है—

चत्वारिश्रृंगास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्या।
त्रिधाबद्धोवृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश ॥[1]

इस मन्त्र में दृष्टा ने बैल के रूपक के द्वारा गूढ आध्यात्मिक सिद्धातो का प्रतिपादन किया है। यहाँ आत्म-ज्ञान को ही वृषभ कहा गया है। वह सच्चिदानन्द स्वरूपी होने के कारण त्रिधाबद्ध कहा गया है। साधन चतुष्टय या चतुर्महावाक्य ही उनके चार शृङ्ग हैं। ब्रह्म बोध के प्रधान तीन साधन श्रवण, मनन, निदिध्यासन उसके तीन चरण हैं। जीवन और विदेह-मुक्ति ही उसके दो सिर हैं। चिदाभास की सात अवस्थाएँ (अविद्या, आवरण, विक्षेप, परोक्ष ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान शोकापगम और तृप्ति) ही उस बैल की सात भुजाएँ हैं। मैं धन्य हूँ, मैं कृतकृत्य हूँ, इस प्रकार की ध्वनियाँ ही उस बैल का रव है। इसी प्रकार दो पक्षियो का यह रूपक भी बहुत प्रसिद्ध है। यह भी बड़ा ही मधुर है—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समान वृक्ष परिषस्वजाते।

१. ३।१।१।८।३।

तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्य
नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

अर्थात् एक वृक्ष पर समान जाति के दो पक्षी मिलकर बैठे हुए हैं इनमें से एक तो मधुर फलो का उपयोग करता है किन्तु दूसरा पक्षी केवल देख रहा है।

इस प्रकार संहिताओ से सैकडो उदाहरण दिये जा सकते है जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि रहस्यवाद की अभिव्यक्ति-प्रणालियो का श्री गणेश भी संहिताओ से हुआ है।

रहस्यवाद की जिन विविध प्रणालियो का जन्म वैदिक संहिताओ में हुआ था। उनका सम्यक् विकास उपनिषद्-साहित्य में हुआ। उपनिषदो में उपर्युक्त प्रणालियो के अतिरिक्त एक अन्योक्ति के ढग की आध्यात्मिक लघु कथाओ की नवीन अभिव्यक्ति प्रणाली-सी दिखाई दी। उदाहरण के लिए हम 'छान्दोग्योपनिषद्' का यह उद्धरण ले सकते हैं—

यथा सोम्य पुरुष गंधारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय त ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाऽधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्ट .।

तस्य यथाभिनहन प्रमुच्य प्रब्रूयादेता दिशं गंधारा एता दिशं व्रजेति स ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गंधारानेवोपसंपद्येत एवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेदतस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सपत्स्य इति।[1]

इस अवतरण में दृष्टा ने कथा के सहारे आध्यात्मिक खोज के इतिहास पर प्रकाश डाला है। इसमें एक पुरुष की कथा है जो एक बार कुछ लुटेरो के द्वारा अपनी जन्म-भूमि गाधार से एक निर्जन स्थान पर पट्टी बांधकर ले जाया गया था। लुटेरों ने उस पुरुष को निर्जन स्थान में स्वतन्त्र कर दिया और स्वय उसे छोडकर चले गए। वह बेचारा वहाँ

१. ६।१४।१-२।

बहुत दिनो तक रोता और भटकता रहा। एक बार किसी सज्जन ने उसे गाधार देश का मार्ग दिखला दिया। फिर क्या था वह पुरुष पूछता-पूछता अपने निवास-स्थान पर पहुँच गया। यहाँ पर पुरुष जीव का प्रतीक है। लुटेरे माया और अज्ञान के वाचक है। निर्जन स्थान इस ससार का द्योतक है, गाधार देश ब्रह्म का सकेतक है। पथ बतलाने वाला पुरुष गुरु के स्थान पर माना जा सकता है इस प्रकार कथा के सहारे प्रतीकात्मक शैली में अन्योक्ति के ढग पर आध्यात्मिक सत्यो की अभिव्यक्ति करने की परम्परा का श्री गरोश भी वैदिक साहित्य में हो चला था। इस प्रकार की अभिव्यक्ति-प्रणाली का प्रभाव हमें मध्यकालीन सूफी सन्त कवियो पर स्पष्ट दिखलाई पडता है। उन्होंने अपनी कथाएँ इसी प्रकार की अन्योक्तिमूलक प्रतीकात्मक शैली में लिखी है। इस दृष्टि से उपर्युक्त प्रकार की वैदिक अन्योक्तिप्रधान कथाओ का मध्यकालीन हिन्दी की रहस्य-भावना के स्वरूप को सँवारने में अच्छा हाथ रहा है।

अब मैं औपनिषदिक रहस्यवाद की प्राणभूत विशेषता पर भी प्रकाश डाल देना चाहता हूँ। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का और विशेषकर उपनिषदो का मूल स्वर अद्वैतवाद है। इस अद्वैतवाद की अभिव्यक्ति उनमें बुद्धिमूलक तथा भाव-प्रधान दोनो ही प्रणालियो में हुई है। उपनिषदो का भाव-प्रधान अद्वैतवाद उनके रहस्यवाद का मेरुदण्ड है। उपनिषदो में भावमूलक रहस्यवाद की बहुत-सी उक्तियाँ मिलती हैं, उदाहरण के लिए 'कठोपनिषद्' का यह मत्र लिया जा सकता है—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

अर्थात् जो एक सबको अपने आश्रय में रखने वाला और सम्पूर्ण रूपो का अतरात्मा अपने एक रूप को ही अनेक प्रकार का कर लेता है।

अपनी बुद्धि में स्थित आत्मदेव का जो धीर पुरुष साक्षात्कार करते हैं उन्हीं को शाश्वत सुख प्राप्त होता है। यहाँ पर कवि ने आत्मा का मानवीकरण किया है और उसे विविध रूप धारण करने वाला ध्वनित किया है। मानवीकरण की कल्पना से आध्यात्मिक उक्ति में रहस्यात्मकता आ गई है। इस प्रकार के तथा इनसे भी अधिक रमणीय वर्णन उपनिषदों में भरे पडे हैं। मध्यकालीन सन्तों पर इनका प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

संहिताओ और उपनिषदों में हमें अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के भी कुछ उदाहरण मिल जाते हैं। कही पर तो विरोधात्मक शैली अपनाई गई है और कही विभावनात्मक चित्र मिलते हैं। प्रतीकात्मक रूपकों और अन्योक्तियो का संकेत हम ऊपर कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त उपनिषदो में कही कही आध्यात्मिक तथ्यों का वर्णन शैलीगत अद्भुतता की व्यञ्जना के सहारे किया गया है। उदाहरण के लिए हम 'कठोपनिषद्' के अश्वत्थ वृक्ष का उदाहरण ले सकते हैं वह इस प्रकार है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखा एषोऽश्वत्थ सनातन. ।
तदेव शुक्र तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिल्लोका श्रिता सर्वे तदु नात्येतिकश्चन ।
एतद्वैतत् ॥

अर्थात् जिसका मूल ऊपर की ओर तथा शाखाएँ नीचे की ओर है ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष सनातन (अनादि) है। वही विशुद्ध ज्योति स्वरूप है वही ब्रह्म है और वही अमृत कहा जाता है। सम्पूर्ण लोक उसीमें आश्रित है, कोई भी उसका अतिक्रमण नही कर सकता। यह निश्चय ही वह (ब्रह्म) है।

संक्षेप में वैदिक रहस्यवाद का स्वरूप यही है। हिन्दी के सन्त कवियो और कुछ सूफी कवियो को रहस्यवाद की इस धारा ने बहुत अधिक प्रभावित किया है। कबीर के रहस्यवाद का मूल स्वर वैदिक ही

है। जायसी में भी वैदिक रहस्यवाद की गहरी छाप दिखाई पड़ती है। यदि उनके रहस्यवाद की तुलना इस रहस्यवाद से की जाय तो बात बिलकुल स्पष्ट हो जायेगी। यहाँ हमारा लक्ष्य दोनो का तुलनात्मक निरूपण करना नही है वरन् जायसी और कबीर के रहस्यवाद की वैदिक पृष्ठभूमि स्पष्ट करना-मात्र है—

यौगिक रहस्यवाद : योग-साधना भारत की एक अत्यन्त प्राचीन साधना है। 'ऋग्वेद' में भी इसके बीज मिलते है। 'ऋग्वेद' के मण्डल ६, सूक्त १८, मत्र ७, में योग का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है वह इस प्रकार है-—

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन स धीनां योगमिन्वति।

अर्थात् विपश्चितो के भी कार्य बिना योग के सिद्ध नही होते है। चित्त-वृत्ति के निरोध का नाम योग है। इस योग-साधना का साङ्ग निरूपण पतजलि ने अपने 'योग सूत्र' में किया। योग का विषय वैयक्तिक साधना से सम्बन्धित है। अन्य साधनो के समान इसका लक्ष्य भी आत्म-साक्षात्कार करना है। योगी अपने अन्तर में स्थित आत्मा के दर्शन प्राप्त करने के लिए सैकडो प्रकार के प्रयत्न करता है। यह सैकड़ो प्रकार के प्रयत्न वास्तव में योग के ही रूपान्तर हैं। किन्तु आजकल योग एक पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'योग सूत्र' में चित्तवृत्तियो के निरोध को योग कहा गया है। इस चित्तवृत्ति निरोध में सफलता प्राप्त करने के लिए योग के आठ अगो की साधना आवश्यक बतलाई गई है। वे आठ अग है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। योग सूत्रो में इसी अष्टाग साधना का वर्णन किया गया है। योग एक अन्तर्मुखी साधना है। वैयक्तिक और अन्तर्मुखी होने के कारण योग-साधना मे जटिलता का समावेश हुआ। आगे चलकर विविध प्रकार के साधको के हाथो में पडकर योग साधना की गुह्यता और रहस्यात्मकता और भी अधिक बढ गई है। यद्यपि इस

साधना की रहस्यात्मकता और गुह्यता साधना की वस्तु है। उसे साहित्य-क्षेत्र में नही घसीटना चाहिए था। किन्तु कुछ भावुक साधको ने योग-साधना के वर्णन वर्णनात्मक एव शुष्क शैली में न करके काव्यात्मक शैली में करना प्रारम्भ कर दिया। काव्यात्मकता के माध्यम से अभिव्यक्त की जाने के कारण यौगिक रहस्यात्मकता भी साहित्य के क्षेत्र में भी घसीटी गई और आचार्यों ने इसे साधनात्मक रहस्यवाद का अभिधान दिया। हमने इसके लिए अन्तर्मुखी रहस्यवाद का नाम अधिक उपयुक्त समझा है। क्योकि यौगिक रहस्य-वृत्तियो के अन्तर्मुखी करने पर ही अनुभूत होते हैं। इसलिए इन्हें अन्तर्मुखी रहस्यवाद का अभिधान देना अधिक तर्क सगत है। भारत में यह अन्तर्मुखी रहस्यवाद कई धाराओ में प्रस्फुटित हुआ है —

१—शैव और शक्ति तन्त्रो में

२—वज्रयान में

३—नाथ पंथ में।

अन्तर्मुखी रहस्यवाद का उपर्युक्त तीनो धाराओ को समझे बिना कबीर-जायसी आदि के रहस्यवाद को समझना कठिन ही नही, वरन् असम्भव है। अत हम प्रत्येक धारा का क्रमशः संक्षिप्त वर्णन कर देना चाहते हैं।

शैव और शाक्त तन्त्र : अब हम शैव और तन्त्रों में पाए जाने वाले रहस्यवाद का स्वरूप निरूपण करेंगे। शैव और शक्ति-साधना योग की आधार भूमि पर ही विकसित हुई है, किन्तु योग का स्वरूप तान्त्रिक आचार्यों ने अपने ढग पर निरूपित किया। तान्त्रिक साधना में उसके रहस्यों के गोपन को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। 'बिम्बसार तंत्र' में लिखा है—

"प्रकाशात् सिद्धिहानि. स्यद्वामाचारगतो प्रिये।
अतो वामपथ देवि गोपायेत् मातृजारवत् ॥

अर्थात् "हे प्रिये ! वामाचार-मार्ग में साधन को प्रकाशित करने से सिद्धि-हानि होती है, अत हे देवि । वाममार्ग को माता के व्यभिचार के सदृश गुप्त रखना चाहिए ।" उनकी इस प्रवृत्ति ने उनकी अभिव्यक्ति को गुह्यातिगुह्य बना दिया। अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद की जननी यही प्रवृत्ति है।

तान्त्रिको ने अपनी साधना की गुह्यता पर जोर नही दिया है वरन् अपने सिद्धान्तो को भी गुप्त रखने की चेष्टा की है। इसके लिए उन्हे भावो को गुप्त रूप से प्रकट करने वाली विविध शैलियो का आश्रय लेना पडा। इन शैलियो में प्रतीक शैली सबसे अधिक अपनाई गई है। इसके फल स्वरूप इस साधना में बडे ही जटिल कोटि के यौगिक और अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद का विकास हुआ। बौद्ध तान्त्रिको ने इस परम्परा का थोडी हेर-फेर के साथ पोषण किया और सत युग के कवियो ने इसे अपने ढग पर जीवित रखने की चेष्टा की है।

शैव और शाक्त तन्त्रो के रहस्यवाद का समूचा स्वरूप स्पष्ट करना वास्तव में बडा कठिन है और यदि उस दिशा में प्रयत्न भी किया जाय तो उसके लिए बहुत अधिक स्थान की आवश्यकता है। अबकी बार मेरा दूसरा प्रयास इसी दिशा में होगा। यहाँ पर हम केवल अत्यन्त सक्षेप में उसका सकेत करेंगे।

तान्त्रिक रहस्यवाद की सबसे प्रधान विशेषता उसकी सक्रियता है। उनके इस सक्रिय रहस्यवाद का स्वरूप-निरूपण करते हुए डी० एन० बोस ने अपने 'Tantras their Philosophy and Occult Secrets' नाम के ग्रन्थ में पृष्ठ १०५ पर प्रो० महेन्द्रनाथ सरकार के शब्दो में समझाने की चेष्टा की है। यहाँ पर उसका कुछ अश उद्धृत कर देना अनुचित न होगा।

"Dynamic mysticism here in India has taken its chief empression in Vaishnavism and in

Tantricism. Both of them have a philosophic approach to Truth, and in spite of the differences in the cast of thought, their unanimity lies in the emphasis put upon the dynamic aspect of existence and upon psychic harmony of being as yielding final insight and access."

अर्थात् भारत में सक्रिय रहस्यवाद का विकास वैष्णव व शैव शाक्त तांत्रिको में हुआ है दोनो ने दार्शनिक ही ढग पर पारमार्थिक सत्ता तक पहुँचने की चेष्टा की है। यद्यपि उन दोनो के दार्शनिक विचारो में अन्तर है। किन्तु वे दोनो ही पिण्ड और ब्रह्मांड के सक्रिय तादात्म्य की साधना में विश्वास करते है। उनके सक्रिय रहस्यवाद का यही प्रधान अग है। इनके लिए बौद्धिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि केवल इसी अर्थ में महत्त्व रखती है कि बुद्धि सरलता से उस सक्रिय साधना को समझ सके। आत्म-रहस्यो को समझने के लिए भौतिक दृष्टि की आवश्यकता पडती है। इन प्रत्यक्ष रहस्यो को देखे बिना रहस्यानुभूति की प्रक्रिया, चाहे वह कल्पनामूलक हो और चाहे भावमूलक हो, पूर्ण नही होती है। पाश्चात्य विद्वान् Alers Corred ने अपनी पुस्तक (जिस पर उसने विश्व-विख्यात नोबल प्राइज प्राप्त किया था) में रहस्यवाद के साधनात्मक पक्ष पर बल देते हुए लिखा है—

"Mysticism in its highest state comprises a very elaborate technique. First, the practice of ascerticism, it is impossible to enter the realm of mysticity without ascetic practice as it is to become an athlete without submitting to physical training" (Man the Unknown)

अर्थात् "रहस्यवाद अपनी उच्चातिउच्च अवस्था में एक विस्तृत क्रम का रूप धारण करता है और उसके लिए कठोर सयम की आवश्यकता रहती है। सबसे प्रथम वैराग्य की आवश्यकता होती है। बिना

वैराग्य धारण किये हुए रहस्य-लोक में प्रवेश पाना ठीक उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार बिना व्यायाम के किसी का पहलवान होना।"

तान्त्रिक रहस्यवाद की आधार भूमि योग है जैसा कि अभी संकेत कर चुके है कि किसी भी प्रकार के रहस्यवादी क्षेत्र में प्रवेश पाने के लिए पहले सयम, नियम और वैराग्य की आवश्यकता होती है। तान्त्रिक साधना में सयम और नियम का विधान पचतत्त्व साधना के रूप में किया गया है। यह पच-तत्त्व-साधना क्या है। इस पर थोड़ा-सा विचार कर लेना चाहिए।

हम अभी ऊपर कह चुके है कि तान्त्रिक लोग अपनी साधना के रहस्यो को सर्वगम्य बनाना नही चाहते है। यही कारण है कि उन्होने अपनी साधना के सिद्धान्तो की अभिव्यक्ति प्रतीको के सहारे से की है। पचतत्त्व साधना की अभिव्यक्ति भी प्रतीक शैली में हुई है। तन्त्रो में पाँच तत्त्वो के लिए पच मकारो के प्रतीको की कल्पना की है। इन प्रतीको के रहस्यो को समझे बिना लोग पच-तत्त्व-साधना के आधार पर तान्त्रिको की घोर निन्दा करते है, किन्तु यह निन्दको की भूल है। तन्त्रो में साधको के तीन प्रकार माने गए है—

(१) दिव्य
(२) वीर
(३) पशु

इन्हे हम क्रमश सतोगुणी रजोगुणी कह सकते है। पच मकारों का प्रतीकात्मक अर्थ भी इन साधको के भाव के अनुकूल लगाया जाता है। इनमें से किसी भी भाव में पच मकारो का अर्थ अभिधामूलक स्वीकार नही किया गया है। पच मकार या पच तत्त्वो के प्रतीकात्मक नाम इस प्रकार है–

(१) मद्य
(२) मास

(३) मत्स्य

(४) मैथुन

(५) मुद्रा।

कुलार्णव तन्त्र में प्रथम दो के अर्थों को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

सुराशक्ति शिवोमासं

अर्थात् "शक्ति ही सुरा है और शिव ही मांस है।" इन दोनो का योग स्थापित करना तान्त्रिक साधना का लक्ष्य है। इन दोनो का योग ही मैथुन है। आगमसार तन्त्र में मत्स्य को वायु का प्रतीक माना गया है।[1] इसी प्रकार उसमें मुद्रा को सहस्रार में होने वाले ज्ञान का प्रतीक माना है।[2] पञ्च मकारो का इस प्रकार योगपरक सात्विक अर्थ केवल दिव्य और वीर साधको के लिए ही नही पशु साधक भी इनका अभिधामूलक अर्थ नही लगा सकते। 'शक्ति और शाक्त' नामक ग्रन्थ में Woodroffe साहब ने पशु तान्त्रिको के अनुसार पञ्च मकारो का स्पष्टीकरण देखिए निम्नलिखित शब्दो में किया गया है—

"In lieu of wine पशु should if Brahaman take milk, if Chhatri ghee, if a Vaish honey, and if Shudra liquor made of rice."[3]

इसी प्रकार और चार तत्त्वो का स्पष्टीकरण भी किया गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि तान्त्रिक साधना में सात्विकता का स्थान है।[3]

तान्त्रिक साधना में सयम नियमो को भी महत्त्व दिया गया है।

---

१. देखिए 'Shakti of the Shakt' by Arthur page 60.

२. " " " page 60.

३ " " " page 60.

'तन्त्र शास्त्र' में देखिए मद्य, मास मैथुन आदि का कितना निषेध किया गया है —

असंस्कृत पिवेद् द्रव्य बलात्कारेण मैथुनम् ।
स्व प्रियेण हतं माम रौरवे नरकं व्रजेत् ॥

अर्थात् "जो असभ्य कौल असस्कृत मदिरा पीना चाहता है वह बलात्कार में रुचि रखता है और आत्म-सुख के लिए पशु-हिंसा करना चाहता है। वह रौरव नरक मे जाता है।"[1] तन्त्र-ग्रन्थो में इस प्रकार के सैकडो उद्धरण भरे पडे है जिनमें सयम-नियम की बातो पर बल दिया गया है।

इस प्रकार पच-तत्त्व की साधना तथा सयम-नियम से अपने को शुद्ध करके तान्त्रिक योग की ओर अग्रसर होता है। उसकी साधना ही साधनात्मक रहस्यो का अक्षय कोष है। कबीर-जायसी आदि पर इनके इस साधनात्मक रहस्यो का प्रभाव पडा है। कबीर आदि साधको ने तन्त्रो के सैकडो पारिभाषिक शब्दो को लेकर अपना अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद खडा किया है।[2] इनका विस्तृत विवेचन किसी दूसरे प्रसग में किया जायगा। यहाँ अत्यन्त सक्षेप मे हम तान्त्रिको की योग-साधना का सकेत-मात्र करेंगे। तान्त्रिको की योग-साधना कुण्डलिनी योग कहलाती है। इसे कुछ लोग शब्द-योग-साधना भी कहते है।

तान्त्रिको की शब्द-योग-साधना से कबीर आदि का रहस्यवाद बहुत अधिक प्रभावित है। यहाँ पर सक्षेप में उस पर विचार करेंगे। तान्त्रिको की शब्द-योग-साधना समझने में उनके दार्शनिक पक्ष को समझ लेना चाहिए। तान्त्रिक शक्तिवादी होते है। शकर का ब्रह्म अद्वैत और निरुपाधि है। किन्तु तान्त्रिको का शिव अद्वैती होते हुए भी

---

१. देखिए 'Principles of Tantras' page 715.

२. देखिए 'कबीर की विचार-धारा' लेखक गो० श० त्रिगुणायत पृष्ठ ४४१।

सोपाधि कहा जा सकता है। क्योंकि शिव में चित् शक्ति समवाय रूप से विद्यमान रहती है। इस चित् शक्ति के आधार पर ही आत्मा या शिव को चित् स्वरूपी भी कहते हैं। वह प्रकाश रूप है। इस चित्स्वरूपी शिव या आत्मा में एक विमर्श नामक शक्ति भी सन्निविष्ट रहती है वह उनसे अभिन्न होती है। यह शक्ति वाक्रूपा है। इसीको नाद कहते हैं इसीको प्राण कहते हैं और इसे ही हम विश्व-शक्ति का समष्टि रूप मानते हैं। इस नाद से ही विश्व का विकास हुआ है। इस शक्ति में ही अ से लेकर क्ष तक अक्षर-ध्वनियाँ निहित रहती हैं। यह परावाक् ही मध्यमा पश्यन्ती परा और सूक्ष्मा आदि का रूप धारण करती है। पिण्ड में इसका निवास-स्थान सहस्रार माना जाता है। इसी को शिव भी कहते हैं। अनहद नाद भी यही है। मूलाधार में इसी शक्ति का स्थूल व्यष्टि रूप माना जाता है। इसीको जीवन-शक्ति कहते हैं। इसीको कुण्डलिनी कहते हैं। जब जीव-शक्तियाँ कुण्डलिनी चलित की जाती हैं तब वह क्रमशः अक्षरों को प्रकट करती हुई सहस्रार में स्थित शिव से मिल जाती है। यही शिव-शक्ति मिलन-स्थल है। जीव-शक्ति को शिव तक पहुँचने में एक पूर्ण मार्ग पार करना पड़ता है। इस मार्ग का वर्णन भिन्न-भिन्न तंत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। कुछ लोग तो इस मार्ग में केवल षट्चक्र मानते हैं और कुछ नौ चक्र मानते हैं। कुछ तंत्रों में इस मार्ग का बड़ा सूक्ष्म वर्णन किया गया है। अधिक मान्य मत षट्चक्रों का ही है। इनका वर्णन कबीर के रहस्यवाद के प्रसंग में किया जा चुका है, अतः यहाँ पर दोहराना नहीं चाहते हैं। इस विषय का विस्तृत वर्णन हम किसी दूसरे स्थल पर करेंगे।

यहाँ पर बिन्दु के सम्बन्ध में दो-एक शब्द अवश्य बता देना चाहते हैं। क्योंकि कबीर आदि सन्तों में इसका बार-बार उल्लेख किया गया है। तंत्र-ग्रंथों में बिन्दु और महाबिन्दु शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इन

दोनो के प्रयोग भी दो रूपो में हुए हैं। एक दर्शन-क्षेत्र में और दूसरा साधना-क्षेत्र में। दर्शन-क्षेत्र में भी बिन्दु के सम्बन्ध में विद्वानो मे मतैक्य नही है। द्वैतवादी तान्त्रिक शिव-शक्ति और बिन्दु तीन तत्त्व मानते हैं। अद्वैतवादी तान्त्रिक बिन्दु और शक्ति को शिव की ही दो विभूतियाँ समझते हैं वे पराशिव में ही अन्तर्निहित रहती हैं। वे विश्व-विकास के समय प्रस्फुटित होती है। इनके अनुसार बिन्दु का ही दूसरा नाम महामाया है। नाद इसी बिन्दु का व्यक्त रूप है। इस दृष्टि से कुछ तान्त्रिको के अनुसार बिन्दु ही अव्यक्त कुण्डलिनी शक्ति है। उसके व्यक्त होने पर नाद उत्पन्न होता है या यो कह सकते है उसका व्यक्त रूप ही नाद है। इस प्रकार बिन्दु के सम्बन्ध में तान्त्रिको में बहुत भेद है। जो भी हो हम बिन्दु को शक्ति का अव्यक्त रूप कहेंगे और स्वाद को उसका व्यक्त रूप कहेंगे। समष्टि रूप में वह विश्व का कारण है और व्यष्टि रूप में वह पिण्ड का कारण है।

बिन्दु और महाबिन्दु शक्ति के शिव तक पहुँचने के मार्ग के बीच के दो पडाव भी माने जाते हैं। कुण्डलिनी शक्ति, बिन्दु और महाबिंदु को पार करके ही अकुल या शिव तक पहुँचती है। सक्षेप में तान्त्रिक रहस्यवाद की आधार-भूमि यही कुल कुण्डलिनी योग या नाद-बिन्दु-साधना है।

बौद्ध तान्त्रिक—तान्त्रिको की उपयुक्त नाद बिन्दु-साधना या कुल कुण्डलिनी योग का विकास सिद्धो में भी हुआ। किंतु उसको उन्होने अपने अनुरूप ही रूप दिया। ये सिद्ध लोग बौद्ध तान्त्रिक भी कहलाते हैं। इन बौद्ध तान्त्रिको को वज्रयानी भी कहते है। मत्र यान सहज यान कालचक्र यान आदि इसीकी शाखाएँ हैं। वज्रयान के चार अग माने जाते हैं—

(१) क्रिया तत्र।
(२) चर्या तत्र।

(६) योग तंत्र।

(४) अनुत्तर योग तंत्र।

क्रिया तंत्र और चर्या तंत्र में धार्मिक विधि-विधानो को महत्त्व दिया गया है। योग तंत्र और अनुत्तर तंत्र में क्रमशः योग-साधना तथा ब्रह्म-चर्चा मिलती है। वैंडेल साहब ने अपने ग्रन्थ 'लामाइज्म'[1] में प्रथम दो अगो को निम्नतर-तंत्र और अन्तिम दो को उच्चतर-तंत्र कहा है। सात्विक साधको के लिए अन्तिम दो अंग ही आचरणीय माने गए हैं। तमोगुणी साधक प्रथम दो का ही पालन कर सकते हैं। वज्रयान के उपर्युक्त चार विभाग थोडे हेरफेर के साथ वैष्णव तंत्रो में भी मिलते हैं वे क्रमश चर्यापद क्रियापद, योगपद, और ज्ञानपद है। इससे स्पष्ट है कि वज्रयान और वैष्णव स्थूल रूप से बहुत मिलते-जुलते हैं। जहाँ योग पक्ष का सम्बन्ध है वज्रयान में इसको विशेष महत्त्व दिया गया है। रहस्यवाद का सम्बन्ध वज्रयान के इसी स्वरूप से है, अत यहाँ पर सक्षेप में उसका वर्णन किया जाता है।

वज्रयानियो की योग-साधना हिन्दू तान्त्रिको से बहुत मिलती-जुलती है। किन्तु फिर भी दोनो की साधना की सूक्ष्म बातें एक-दूसरे से भिन्न हैं, आगे के विवेचन से बात स्पष्ट हो जायगी। तान्त्रिक योग-रहस्यो का सकेत करने से पहले हम थोडा-सा उसकी धार्मिक बातो और विश्वासो की ओर सकेत कर देना आवश्यक समझते है।

बौद्ध तान्त्रिको के प्रज्ञा, उपाय और महासुख के सिद्धान्त बहुत प्रसिद्ध हैं - जिस प्रकार हिन्दू तंत्र में शिव और शक्ति का सुहाग स्थापित करने के लिए योग-साधना का विधान मिलता है, उसी प्रकार बौद्ध तन्त्रो में प्रज्ञा और उपाय को एक करने के लिए योग का वर्णन किया गया है। प्रज्ञा और उपाय क्रमश स्त्री-शक्ति और पुरुष-शक्ति के वाचक है।

---

१. पृष्ठ १६०, १५२।

बौद्ध-तन्त्रो में इस प्रज्ञा के बहुत-से पर्याय प्रचलित हैं। इनमें मुद्रा, महामुद्रा, वज्रकन्या, योनि, युवती, भगनी, रजकी, नर्तकी, धृतिका, डोम्बी आदि प्रमुख हैं।[१] इसी प्रकार का उपाय लिंग-पुरुष आदि के लिए भी प्रयुक्त होता है।

इस प्रज्ञा और उपाय के लिए नाडीपरक पर्याय भी बौद्ध तन्त्रो में प्रचलित है, इन्हे इडा और पिंगला भी कहते हैं। ललना और रसना भी इन्ही के नाम हैं।[२] अवधूती इन दोनो के मध्य की नाडी होती है, इसे अवधूत कहते हैं। हिन्दू-तन्त्रो में यही सुषुम्ना कहलाती है। बौद्ध तन्त्रो में इसे महासुख का स्थान मानते हैं। जिस प्रकार हिन्दू-तन्त्रो की साधना का लक्ष्य मूलाधार की शक्ति को सहस्रार के शिव से मिलाना होता है, उसी प्रकार बौद्ध तन्त्रो में प्रज्ञा और उपाय का सुहाग स्थापित करने पर विशेष बल दिया गया है। प्रज्ञा और उपाय की योग-साधना में भी चक्रों का भेदन करना पडता है।

बौद्ध-तन्त्रो में केवल चार चक्रो को ही महत्त्व दिया गया है। हिन्दू तन्त्रो के षट्चक्रो में से केवल तीन चक्र ही बौद्ध-तन्त्रो में वर्णित किये गए हैं। वह क्रमश मणिपुर चक्र, अनाहत चक्र और विशुद्धचक्र है। हिन्दू-तन्त्रो का सहस्रार बौद्ध-तन्त्रो में उष्णीस कमल के नाम से उल्लिखित मिलता है। कुछ बौद्ध-तन्त्रो में इसे महासुखचक्र भी कहा गया है। सेकोद्देश[३] टीका में इन चक्रों का विस्तृत वर्णन किया गया है। उसके अनुसार मस्तक चक्र में सोलह दल होते हैं। तथा नाभि कमल में ६४ दल माने जाते हैं। इस विषय का यहाँ पर अधिक विस्तार न करके किसी

१ देखिए—'Introduction to Tantrik Budhism,' by S B Das Gupta page 114.
२ देखिए —'Introduction to Tantric Budhism' by S B. Das Gupta ,page 118.
३ सेकोद्देश टीका gos पृष्ठ २७ पर देखिए।

दूसरे समय इन पर विस्तार से विचार करेंगे।

अब यहाँ पर सहज और शून्य इन दो शब्दों पर थोड़ा-सा विचार कर लेना चाहते हैं। क्योंकि कबीर आदि रहस्यवादियों में इन दोनों शब्दों का बहुत प्रयोग किया गया है।

पहले हम सहज शब्द को स्पष्ट कर देना चाहते हैं। शशिभूषण गुप्ता ने अपने Obscure Religious Cults[1] नामक ग्रन्थ में इस शब्द के स्वरूप और अर्थ पर अच्छा प्रकाश डाला है।

उनके मतानुसार सहज का शाब्दिक अर्थ है—वह जो साथ ही उत्पन्न हो (सह जायते इति सहज), अतः सहज वह तत्त्व हुआ जिसे समस्त धर्म अपनी उत्पत्ति के साथ ही समवाय रूप से सन्निहित रखते हैं। वास्तव में यह धर्म का सार रूप है। क्योंकि महासुख को सब धर्मों का सार रूप मानते हैं। इसलिए महासुख सहज रूप हुआ। हेवज्रतन्त्र में ... कि समस्त संसार ही सहज स्वभाव वाला है, क्योंकि सहज सबका सार स्वरूप है। इसी सहज स्वरूप को निर्वाण भी मानते हैं। निर्वाण रूप में इसकी अनुभूति उनको होती है जो शुद्ध चित्स्वरूप हो गए हैं। यद्यपि सहज महासुख के रूप में इस शरीर के द्वारा ही अनुभूत किया जाता है किन्तु इसे कोई भौतिक वस्तु नहीं समझना चाहिए।

सबका सार रूप होने के कारण यह पारमार्थिक सत्य स्वरूप कहा जा सकता है। यह निरुपाधि और सोपाधि दोनों स्वरूपों में पाया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध तान्त्रिकों के यहाँ यह सहज शब्द ब्रह्म का पर्यायवाची है। इसका प्रयोग निरुपाधि और सोपाधि ब्रह्म के दोनों स्वरूपों का बोध कराने के लिए किया जाता है। यह ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों में विद्यमान है। यह अद्वैतरूप और अखण्ड है। इससे स्पष्ट है कि वज्रयान की सहजयान शाखा भी अद्वैतमूलक है।[1] ...न सहज के

१ पृष्ठ ९० पर देखिए।

सहारे सिद्धो ने बहुत-सी रहस्याभिव्यक्तियाँ खडी की हैं। उन्हीके आधार पर निर्गुणी कवियो ने भी सहज का प्रयोग रहस्यात्मक ढग मे किया है।

अब हम शून्य शब्द को स्पष्ट कर देना चाहते हैं। शून्य शब्द का भी एक लम्बा-चौडा इतिहास है। यहाँ पर उसका विस्तृत वर्णन करना असम्भव ही नही अनावश्यक भी है। शून्य शब्द का दार्शनिक निरूपण सर्वप्रथम बौद्ध दर्शन में किया गया था। बौद्ध धर्म की दो प्रमुख धाराएँ हैं—हीनयान और महायान। शून्य का प्रयोग दोनो धाराओ में किया गया है। किन्तु दोनो के स्वरूप और अर्थ में अन्तर है। इस अतर को समझाते हुए 'Aspects of Mahayan Budhism' नामक ग्रन्थ में N. Dutt साहब ने इस प्रकार लिखा है—

"हीनयानी शून्य शब्द की सीधी-सादी परिभाषा देते हैं। उनका कहना है कि जगत् विविध व्यक्तित्व या व्यक्तित्व-सबधी बातो से रहित होने के कारण शून्य कहा जाता है। किन्तु महायानी केवल व्यक्तित्व-विहीनता को ही शून्य की अवस्था नही मानते हैं। उनके अनुसार तथागतता, निर्वाण, आकाश आदि सभी कुछ शून्य है। वास्तव में तथागत इस प्रकार के वन्ध्या-पुत्र के सदृश्य विरोधात्मक शब्दो के झगडे में नही पडते हैं।"

माध्यमिक आचार्यो ने शून्य की कल्पना के कारण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि किसी भी पदार्थ के स्वरूप-निर्णय में चार प्रकार की शैलियाँ होती हैं। वे क्रमश अस्ति, नास्ति तदुभय तथा नोभय हैं, किंतु माध्यमिक परम तत्त्व का बोध इनमें से किसी भी शैली मे नही किया जा सकता है। क्योंकि वह अवाङ्मनसाग्र गोचर एव अनिर्वचनीय है। उसका बोध यदि किसी भी शब्द से किया जा सकता है तो शून्य शब्द

१ 'Aspects of mahayan Budhism', by N Dutt page 47

से लिया जा सकता है। इस प्रकार माध्यमिक मत में शून्य पारमार्थिक सत्ता का वाचक रहा।

बौद्ध सिद्धों ने भी शून्य शब्द का बार-बार प्रयोग किया है। इन सिद्धों ने इस शब्द के अर्थ को विलक्षण रूप दिया है। बौद्धगान में शून्य की पारमार्थिक सत्ता स्वीकार की गई है। दोनों ही रूपों में शून्यता का प्रज्ञा और करुणा या उपाय का समन्वित रूप है। इन दोनों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए S B Das Gupta ने अपने 'Obscure Religious Cults' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ३६८ पर लिखा है—"Cosmologically (प्रज्ञा) is pure consciousness and perfect enlightenment and is the principle of pure passivity (उपाय) is the world forced. It is the dynamic principle through the activities of which the phenomenal world come into existence." अर्थात् विश्व-विकास की दृष्टि से प्रज्ञा या शून्यता शुद्ध चित् तत्त्व है। यह प्रकाश और स्थिर रूप रहता है उसमें उपाय गतिशील तत्त्व है। इसी के प्रभाव से प्रज्ञा में क्षोभ उत्पन्न होता है, जिसके फलस्वरूप विश्व का विकास होता है।" इस आधार पर कभी इसी शब्द का प्रयोग चित्स्वरूपी स्थिर प्रकाश रूप सत्ता के अर्थ में किया जाता है। वज्रयानी सिद्धों में इसका प्रयोग प्राय इसी अर्थ में किया गया है। कहीं-कहीं कबीर आदि सन्तों ने शून्य का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। संक्षेप में तान्त्रिक बौद्धों के रहस्यवाद का स्वरूप यही है।

कुछ लोग तो नाथ पंथ को भी तांत्रिक बौद्धों का ही एक सम्प्रदाय मानते हैं। किन्तु यह शैव और बौद्ध तान्त्रिकों की साधना के सम्मिश्रण से तैयार किया हुआ नया साधना-प्रधान सम्प्रदाय है। हमारी समझ में साधना की दृष्टि से नाथ-सम्प्रदाय के भी दो भेद हैं—एक मत्स्येन्द्रनाथी साधना और दूसरी गोरखपंथी साधना। मत्स्येन्द्रनाथी योग-साधना को

योगनी कौलमार्ग[1] कहा गया है। गोरखपंथी साधना को नाथपंथी साधना-मार्ग कहा जाता है। हमारी समझ में यह नाम-सबंधी अन्तर उनके कुछ धार्मिक और दार्शनिक मतभेदो का द्योतक है। साधना की दृष्टि से इन दोनो में कोई विशेष मौलिक अन्तर नही है, जो थोडा-बहुत अन्तर दिखाई पडता है उसका कारण यह है कि योगिनी कौल पथ में हठयोग या कुल कुण्डलिनीयोग को विशेष महत्त्व दिया गया है और गोरख के नाथ-पथ में मन और पवन-साधना को विशेष मान्यता दी गई है। दोनो ही साधनाएँ मिलकर मत्स्येन्द्रनाथी योग-साधना के अभिधान से प्रसिद्ध है। इनकी योग-साधनाओ का सामान्य-विस्तृत विवेचन 'शिव सहिता', 'हठयोग प्रदीपिका', 'घेरड सहिता', 'योगोपनिषद्' आदि ग्रथो में किया गया है। यदि दोनो की साधनाओ के अलग-अलग स्वरूपो को देखना हो तो मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ के ग्रथो को अलग-अलग स्वतत्र रूप में देखना चाहिए।

सामान्य रूप से नाथपथियो का योग हठयोग के नाम से प्रसिद्ध है। हठयोग के अर्थ को 'हठयोग प्रदीपिका' की टीका में इस प्रकार समझाने की चेष्टा की गई है —

"हश्च ठश्च हठौ सूर्यचन्द्रौ, तयोर्योगो हठयोग। एतेन हठशब्दवाच्ययो सूर्यचन्द्राख्ययो प्राणापानयोरैक्य लक्षण प्राणायामो हठयोग इति हठयोगस्य लक्षण सिद्धम्।"[2]

अर्थात् 'ह' का अर्थ है, सूर्य 'ठ' का अर्थ है चन्द्र, इस प्रकार सूर्य और चन्द्र के योग को हठयोग कहा गया है। कुछ लोग सूर्य और चन्द्र से प्राण और अपान का अर्थ लेकर हठयोग का अर्थ, 'प्राणापान् एक्यरूप' प्राणायाम मानते है। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में गोरखनाथजी ने भी 'हठ' शब्द की व्याख्या कुछ इसी प्रकार की है —

---

१. 'कौल-ज्ञान निर्णय' द्वारा पी० सी० बागची, पृष्ठ २५ देखिए।

२. 'हठयोग-प्रदीपिका', श्रीनिवास आयगार, पेज ३ पार्ट २।

"हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते ।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ॥"

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाथ-पंथ में सूर्य और चन्द्र के योग के लिए जो साधना की जाती है उसीको हठयोग कहा गया है । उस हठयोग के विविध अंगों व उपांगों के विस्तृत वर्णन हमें नाथपंथी ग्रंथों में मिलते हैं । 'पातंजल हठयोग' में कुछ निश्चित यम, नियम, आसन आदि का ही उल्लेख किया गया था । किन्तु मत्स्येन्द्रनाथी योग-मार्ग में हठयोग के इन अंगों और उपांगों का बड़ा ही जटिल विस्तार किया गया है । नाथ पंथी हठयोग की इस जटिलता का प्रभाव कबीर और जायसी दोनों के रहस्यवाद पर पड़ा है। उनके रहस्यवाद का विवेचन करते समय हम उनका उल्लेख कर चुके हैं । अतएव यहाँ पर पिष्टपेषण करके विषय-विस्तार नहीं करेंगे ।

सूफी रहस्यवाद और जायसी

सूफी मत अन्ध-विश्वास-प्रधान शुष्क इसलाम धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में उदय हुआ था । इसलाम धर्म में बुद्धि की भावना के लिए कोई स्थान ही नहीं है । बुद्धिमान भावुक मुसलमानों ने इसलाम धर्म की यह अपूर्णता न देखी जा सकी, इसलिए उन्होंने सूफी-भावना को जन्म दिया । सूफी मत के उदय होने का एक और कारण है, वह है मानव का लौकिक रति के प्रति अटूट लगाव । मनुष्य कभी भी इस रति से पूर्ण विरति नहीं प्राप्त कर सका है । सृष्टि के विकास का भी मूल कारण यही लौकिक रति या वासना ही है । 'बृहदरण्यकोपनिषद' में स्पष्ट लिखा है कि आदि पुरुष ने रमण की कामना से ही द्विधा फिर बहुधा रूप धारण किया । परम पुरुष की इस रमण-कामना की तृप्ति के हेतु भिन्न-भिन्न धर्मों में भिन्न-भिन्न प्रकार के साधनों को जुटाने की चेष्टा की गई । विश्व के समस्त प्राचीन सभ्य देशों में देवदासी की प्रथा का

पाया जाना इस बात का पुष्ट प्रमाण है।[1] धर्म में अंकुरित होने वाली इसी मादन भाव की अभिव्यक्ति सूफी मत में अलौकिकता का बाना पहनाकर प्रतिष्ठित की गई है। इसलाम में लौकिक रति को केवल उतना ही महत्त्व दिया गया था जितना कि समाज को सुचारु रूप से सचालित करने के लिए आवश्यक समझा गया था। उसमें अनियन्त्रित प्रणय के लिए कोई स्थान ही न था। इसीलिए भावुक सूफियो ने एक ऐसे मत की प्रतिष्ठा की जिसमें अलौकिक भक्ति के साथ-साथ लौकिक रति को भी महत्त्व दिया गया। "परदे बुतां में नूरे खुदा देखते हैं" वाली बात इसी लौकिक परिधान में सुसज्जित अलौकिक रति का सदेश देती है। इस प्रकार सूफियो में लौकिक एव अलौकिक दोनो प्रकार क रति-भावना की अभिव्यक्ति में अपनी सारी शक्ति लगादी। पहले ये सूफी अधिकतर सत और साधु व्यक्ति ही थे। अतएव वे लौकिक रति को अलौकिक रति तक पहुँचने का एक सोपान-मात्र समझते थे। बाद में चलकर लौकिक रति के प्रति ही इनका लगाव रह गया। अलौकिक रति की भावना केवल नाम-मात्र के लिए ही अवशिष्ट रह गई। इस प्रकार रति-भावना सूफी सम्प्रदाय के इतिहास में सदैव ही किसी-न-किसी रूप में प्रतिष्ठा पाती रही है। इसीलिए इसे सूफी-साधना की आधार-भूमि कहते है।

रति-भावना का सम्बन्ध सौंदर्य और प्रेम से है। सूफियो ने अधिकनर 'हक' या ईश्वर की कल्पना इसीलिए या तो सौंदर्य रूप में की है या प्रेम रूप में। प्रसिद्ध सूफी इब्ने सेना सौन्दर्यवादी थे और मसूर हल्लाज प्रेमवादी। जायसी के पद्मावत पर इन दोनो का ही पूरा-पूरा प्रभाव दिखलाई पडता है। उनका समस्त काव्य सौन्दर्य और प्रेम की मधुर भावना से विभोर है। अत्यन्त सक्षेप में हम यहाँ पर 'पद्मावत' में

१ 'देखिए 'सरस्वती भवन स्टडीज', वाल्यूम ८ में मन्मथनाथ का लेख।

पाई जाने वाली सौन्दर्य-भावना और प्रेम-भावना पर दो-चार शब्द कह देना चाहते हैं।

जायसी का सौन्दर्य-चित्रण सर्वत्र ही अलौकिक है। जहाँ पर लौकिक सौन्दर्य का भी वर्णन किया है वहाँ पर बीच-बीच में समासोक्ति के सहारे उसकी अलौकिकता व्यंजित कर दी है। पद्मावती अपने केशों को खोलकर उन्हें सँवारना चाहती है। उसके केश इतने काले हैं कि स्वर्ग और पताल में भी अन्धकार छा जाता है —

बेनि छोरि झार जो बारा।
स्वर्ग पतार होई अँधियारा॥

सौन्दर्य की यह विराट् भावना ही जायसी के काव्य का प्राण है। इसकी अभिव्यक्ति उन्होंने पद्मिनी को विराट् ब्रह्म के रूप में कल्पित करके और भी सुन्दर ढंग से की है। देखिए निम्नलिखित पंक्तियों में जायसी ने विराट् ब्रह्म रूपिणी पद्मिनी के विराट् सौन्दर्य का चित्रण कितने सुन्दर ढंग से किया है। इन पंक्तियों पर सूफी रहस्य-भावना की पूरी छाप दिखलाई पड़ती है। सूफी रहस्य-भावना के साथ-ही-साथ औपनिषदिक प्रतिबिंबवाद ने स्वर्ण-सुगन्ध संयोग उत्पन्न कर दिया है

कहा मानसर चाह सो पाई। पारस रूप यहाँ लगि आई॥
भा निर्मल तिन पायन परसे। पावा रूप रूप के दरसे॥
मलय समीर बास तन आई। भा सीतल गए तपन बुझाई॥
न जनौं कौन पौन लै आवा। पुन्य दशा भई पाप गवाँवा॥
ततखन हार बेग उतराना। पावा सखीन्ह चन्द विहँसाना॥
बिगसा कुमुद देख ससि रेखा। भई तहँ ओप जहाँ जोइ देखा॥
पावा रूप रूप जस चाहा। ससिमुख जनु दरपन होई रहा॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि जायसी की सौन्दर्य-भावना और अभिव्यक्ति सूफियों से बहुत प्रभावित है। जायसी ने जिस सौन्दर्य का वर्णन किया है उसमें एक विचित्र पवित्रता है, एक अलौकिक आनन्द विधायक

विशेषता है। उस दिव्य सौन्दर्य के साक्षात्कार से अज्ञान का अन्धकार नष्ट हो जाता है। जन्म-जन्मान्तर के पाप धुल जाते हैं उपर्युक्त पंक्तियों में साक्षात्कार की इसी स्थिति का चित्रण किया गया है। इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर उन्होंने एक ऐसा ही और चित्रित किया है वह इस प्रकार है—

देखि मानसर रूप सुहावा। हिय हुलास पुरइन होई छावा॥
गा अंधियार रैन मसि छूटी। भा भिनसार किरन रवि फूटी॥

यही सौन्दर्य भावना प्रेम का मूल कारण है। इसीलिए सूफियो ने प्रेम तत्त्व को अत्यधिक महत्व दिया है। यह प्रेम तत्त्व सूफियो के अनुसार अत्यधिक विरह विशिष्ट होता है। और तर्क से रहित होता है। जलालुद्दीन रूमी ने प्रेम का वर्णन करते हुए देखिए उसकी कितनी सुन्दर व्याख्या दी है—

'Tis heartache lays the lover's passions fare,
No sickness with heart-sickness may compare.
Love is a malody apart, the sign,
And astrolabe of mystries Divine.
Whether of heavenly mould or earthly cast,
love still doth lead us yonder at the last.
Reason, explaining Love, can naught but flounder,
Like ass in mire; Love is Love's own expounder
Does not the sun himself the sun declare ?
Behold him: all the proof thou seek'st is there.'[१]

अर्थात् हृदय की पीडा प्रेमी के प्रेम की अभिव्यक्ति कर देती है। इस हृदय की वेदना से किसी अन्य वेदना की तुलना नही की जा सकती है। प्रेम एक अलग ही रोग है, जिसमें दैवी-विभूतियो की अनुभूति होती

१. ('Rumi' by Nicholson page 43)।

है। यही प्रेम हमें आगे ले जाता है। इसकी अभिव्यक्ति और व्याख्या तर्क के सहारे नहीं की जा सकती प्रेम स्वय ही अपना व्याख्याकार होता है। वह ठीक उसी तरह से है जिस तरह से सूर्य होता है। सूर्य अपना प्रमाण स्वय है। प्रेम भी स्वय प्रमाणरूप होता है। एक स्थल पर इमरसन[1] ने भी इसी भावना की अभिव्यक्ति दूसरे शब्दों में-की है। यही प्रेम-तत्त्व साधक को प्रेरणा देता है इसी को पाकर वह उन्मत्त हो उठता है। रूमी ने इस स्थिति का बड़े सुन्दर ढग से चित्रण किया है—

"It is the flame of love that fired me,
This is the wine of love that inspired me.
Wouldst thou learn how lovers bleed,
Hearken, hearken to the Read."[1]

अर्थात् प्रेम की ज्वाला ने ही मुझे प्रज्वलित किया है। उसीकी मदिरा ने मुझे उन्मत्त बनाया है। इस नर-कुल घास से यह सीख लो कि प्रेमी किस प्रकार से अपना रक्त बहाता है। यही दिव्य सौन्दर्य साधक को सिद्धि के द्वार पर ले जाता है —

"Love will not let his faithful servant's tire,
Immortal Beauty draws them on and on,
From glorys unto glory, drawing nigher,
At each remove and loving to be drawn"[2]

अर्थात् प्रेम सच्चे प्रेमी को कभी थकने नहीं देता। उसे वह नित्य नवीन शाश्वत सौन्दर्य की अनुभूति कराता रहता है, और प्रत्येक पद पर नित्य नई विभूति प्रदान करता रहता है।

रूमी के सदृश जायसी भी सूफी थे, इसीलिए उन्होंने दिव्य सौन्दर्य और प्रेम की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। दिव्य सौन्दर्य का सकेत ऊपर

---

१. देखिए 'Rumi' By Nicholson page 43 पर टिप्पणी नं० ३।

२. 'Rumi', by Nicholson. page 30 देखिए।

किया जा चुका है। यहाँ पर उनके सूफी-प्रेम पर दो-चार शब्द कहना अभिप्रेत है। जायसी ने जिस प्रेम का वर्णन किया है वह प्रत्यक्ष लौकिक दिखलाई देते हुए भी अलौकिक है। यह बात उन्होंने "परिमल प्रेम न आछे छपा" लिखकर समर्पित की है। यही परिमल-प्रेम 'कठिन दुहेला' कहा गया है।

किन्तु इस प्रेम को जो अपनाता है वह दोनो ससार से पार हो जाता है —

भलेहि प्रेम है कठिन दुहेला।
दुइ जग तरा प्रेम जेहि खेला॥

यह प्रेम सुरा के सदृश मादक है। इसे पीकर मरने व जीने का भय नही रह जाता —

सुनि धनि प्रेम सुरा के पिये,
जियन मरन डर रहै न हिए।
प्रेम सुरा जेहि के हिय चाहा,
कित बैठे महुआ के छाहा॥

यह आध्यात्मिक प्रेम अनिवर्चनीय भी होता है। इसके महत्व को वही जानता है जिसने इसका अनुभव किया है।

प्रेम वार सो कहै जो देखा।
जो न देख का जान विसेखा॥

सूफी आध्यात्मिक प्रेम की एक और विशेपता होती है वह है उसका विरह से मुक्त होना। जायसी ने अपने प्रेम में विरह को विशेष महत्व दिया है —

प्रीति वेल सँग विरह अपारा।
सरग पतार जरै तेहि झारा॥

इस आध्यात्मिक प्रेम की जागृति पूर्व जन्म के पुण्यो के प्रभाव के फलस्वरूप होती है। तभी तो जायसी ने लिखा है—

न जनौं कौन पौन लेइ आवा।

पद्मावती इसी विशुद्ध ब्रह्म के दर्शन पर-सम्भवतः अपने पूर्व जन्म के पुण्यों की सराहना करता हुआ कहता है कि न मालूम किस पुण्य के फल-स्वरूप उसे ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त हुआ है। इस आध्यात्मिक प्रेम में लौकिक प्रेम की शारीरिक वासना-तृप्ति के स्थान पर केवल दर्शन की कामना ही को महत्त्व दिया गया है। इस दर्शन की कामना के आगे बाधक स्वर्ग की भी उपेक्षा करना है। 'पद्मावत' में रत्नसेन कहता है—

नाहीं सरगक चाहौं राजू ॥
ना मोहि नरक सेंति किछु काजू।
चाहौं ओहि कर दरसन पावा।
जेहि मोहि आनि प्रेम-पथ लावा॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'पद्मावत' में वर्णित प्रेम और सौन्दर्य दोनों ही पूर्णरूपेण सूफी हैं। यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि जायसी का प्रेम वर्णन आध्यात्मिक है तो फिर इतनी वासना की दुर्गन्ध जगह-जगह पर क्यों आती है?

दिन दिन मदन सुनाती आई—ऐसी उक्तियाँ उसमें क्यों पाई जाती हैं? इस सम्बन्ध में मैं सूफी देवदासी राबिया का स्मरण करना चाहता हूँ। राबिया अपने को अल्लाह की पत्नी समझती थी। वह कहती है—'हे नाथ! मैं आपको द्विधा प्रेम करती हूँ। एक तो यह मेरा स्वार्थ है कि मैं आपके अतिरिक्त किसी अन्य की कामना नहीं करती—दूसरे मेरा यह परमार्थ है कि आप मेरे पर्दे को मेरी आँखों से हटा देते हैं ताकि मैं आपका साक्षात्कार करके आपकी स्तुति में निमग्न हो जाऊँ। किसी भी दशा न मुझे इसका श्रेय नहीं मिल सकता। यह तो आपकी इनायत का प्रसाद है।'[1]

१ देखिए 'ए लिट्रेरी हिस्ट्री आफ़ अरेबिया', पृष्ठ २३४।

राबिया की इस प्रेमाभिव्यक्ति में हमें जो एक प्रवेगपूर्ण मादन भाव के दर्शन होते है उसमें प्रत्यक्ष लौकिकता होते हुए भी अलौकिकता और आध्यात्मिकता वर्तमान है। 'पद्मावत' में जायसी ने इसी दाम्पत्य-भाव की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष लौकिक रूप में करते हुए भी उसमें अप्रत्यक्ष आध्यात्मिकता को प्रतिष्ठित कर दिया है। 'पद्मावत' में लौकिक प्रेम पक्ष में पाए जाने का एक कारण और है। 'पद्मावत' की कहानी एक प्रसिद्ध लोक-कथा है। लोक-कथा की रक्षा और निर्वाह किये जाने के लिए लौकिक मादन भाव का वर्णन परमापेक्षित था। यही कारण है कि जायसी ने प्रत्यक्ष रूप से लौकिक प्रेम का ही वर्णन किया है।

आध्यात्मिक प्रेम मे आध्यात्मिक विरह का बडा ही महत्त्व है। यह विरह ही प्रेम को उद्दीप्त किये रहता है। इसीलिए सूफी कवियो ने विरह-तत्त्व को बहुत महत्त्व दिया है। जायसी भी सूफी थे, अतः उनमें भी उसकी मार्मिक अभिव्यजना मिलती है।

जायसी ने भी अन्य सूफियो की भांति विरह-तत्त्व को अधिक महत्त्व दिया है। उन्होने तो यहाँ तक लिखा है कि साधक को गुरु से विरह-तत्त्व ही प्राप्त होता है—

गुरु विरह चिनगी जो मेला।
सो सुलगाइ लेइ जो चेला॥

प्रेम के समान जायसी ने विरह के भी लौकिक औरअलौकिक दोनो पक्षो का उद्घाटन किया है। जहाँ पर विरह व्यक्तिपरक है वहाँ पर तो उसका लौकिक पक्ष ही प्रधान है, किन्तु जहाँ पर उसका आरोप विश्व में कर दिया गया है वहाँ वह पूर्ण रूप से अलौकिक हो गया है—

बिरह की आगि सूर जग काँपा।
रातहि दिवस जरै ओहि तापा॥
औ सब नखत तराईं जरहीं।
टूटहि लूक धरति महँ परहीं॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी में सूफियो का विरह-तत्त्व भी अपने सुन्दरतम रूप में पुनर्कित है।

जायसी सूफियों के आध्यात्मिक सिद्धान्तो से भी प्रभावित थे। सूफियो की यह दृढ धारणा है कि रूह सदैव अपने प्रियतम से एकाकार प्राप्त करने के लिए तडपती रहती है। रूमी ने इस बात का संकेत करते हुए लिखा है—"ईश्वर ने अपने प्रकाश की वर्षा सभी आत्माओं पर की, किन्तु पवित्र आत्माएँ ही केवल उसे प्राप्त कर सकीं। उस प्रकाश को प्राप्त करके वे संसार की समस्त वस्तुओं से विमुख होकर ईश्वरोन्मुख होगई हैं। जो समुद्र की धारा है वह समुद्र में ही जाती है। इस प्रकार आत्मा जहाँ से आई है वहीं जाना चाहती है।"

सूफियो के इस आध्यात्मिक सिद्धान्त की छाया जायसी की निम्नलिखित पंक्तियो में स्पष्ट दिखाई पड़ती है —

धाय जो बाजा कै मन साधा।
मारा चक्र भयऊ दुइ आधा॥

इन पंक्तियो में उन्होंने स्पष्ट ध्वनित किया है कि विश्व के समस्त पदार्थ उस परमात्मा तक पहुँचने के लिए प्रयत्नशील हैं, किन्तु अपनी साधना की अपूर्णता के कारण वे वहाँ पहुँच नही पाते हैं। भारतीय दृष्टि से भी आत्मा परमात्मा का अंश है और वह सदैव उससे तादात्म्य स्थापित करने के लिए तड़पती रहती है, किंतु माया के कारण वह सरलता से उससे नही मिल पाती है। जब साधक ज्ञान के सहारे माया पर विजय प्राप्त कर लेता है तभी वह अपने प्रियतम से तादात्म्य-लाभ करता है।

सूफियो की सृष्टि-विकास-सम्बन्धी धारणा का भी प्रभाव जायसी पर लक्षित होता है। सूफियों में बहुत-से वर्ग है। प्रत्येक वर्ग सृष्टि, उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में अपने अलग-अलग मत रखता है। जायसी

पर महदियावर्ग के सूफियो का प्रभाव अधिक पडा था। ये वर्ग सिद्धान्त रूप से प्रतिबिम्बवादी है। इनके मतानुसार ससार एक दर्पण है जिसमें ईश्वर के धर्म प्रतिबिंबित होते रहते हैं। जायसी ने सूफियो के इस प्रतिबिंबवाद की भाँकी मानसरोदक-खण्ड के अतिम अवतरण में बहुत सुन्दर ढग से सजाई है—

कहा मानसर चाह सो पाई।
पारस रूप यहाँ लगि आई॥
नैन जो देखा कमल भा, निर्मल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हस भा, दसन जोति नगहीर॥

यहाँ पर पद्मावती का चित्रण विराट् ब्रह्म के रूप मे किया गया है। सरोवर को हम ससार का प्रतिरूप मान सकते हैं। पद्मावती रूपी ईश्वर के ही विविध अग रूपी धर्म सरोवर रूपी ससार में विविध पदार्थों के रूप में प्रतिबिंबित दिखलाए गए हैं। इस आधार पर हम जायसी की जगत्-सबन्धी धारणा सूफियो के महदिया-वर्ग के अनुरूप मान सकते हैं।

सूफी-धर्म भी एक साधना-प्रधान धर्म है। यौगिक साधना के सदृश सूफी-साधना भी रहस्यपूर्ण है। सूफियो को अपना कल्ब (हृदय) शुद्ध करके रूह (आत्मा) को विकसित करना पडता है। कल्ब शुद्ध करने के लिए उन्हें सात मुकामात से होकर गुजरना होता है। वे मुकामात क्रमश प्रायश्चित्त, अकिंचनता, त्याग, सतोष, ईश्वर-विश्वास, धैर्य तथा निरोध हैं। इनके अतिरिक्त साधक के लिए ईश्वर-स्मरण और जप आदि भी आवश्यक होते हैं, इन्हें हालात कहते हैं। बाशरा सूफी लोग सदाचरण, प्रपत्ति और कुरान शरीफ की आयतो का पालन करना भी आवश्यक समझते हैं। इस प्रकार साधक अपने शरीर आत्मा और मन को शुद्ध करके क्रमश साधना के मार्ग में अग्रसर होता है। ये मार्ग बहुत ही कठिन और जटिल है इसीलिए उसमें उन्होने चार पडाव माने हैं—शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारफत हैं।

धर्म-ग्रन्थों की शरायत के अनुकूल चलना ही शरीयत है। मानसिक एवं हार्दिक साधना-मार्ग में अग्रसर होना तरीकत कहलाता है। प्रेम और ज्ञान के सहारे सत्य का बोध करना हकीकत है। मारफत शुद्ध ज्ञान और समाधि की स्थिति है, जिसमें पहुँचकर साधक ब्रह्ममय हो जाता है। इस स्थिति का वर्णन सूफियों ने बड़े विस्तार से किया है। इस स्थिति के छः पक्ष माने गए हैं; इनका हम जायसी के प्रसंग में उल्लेख कर चुके हैं।

जायसी में सूफी साधना की उपर्युक्त सभी बातें मिलती हैं। उनके रहस्यवाद का वर्णन करते समय उनका विवेचन कर दिया जायगा।

सूफियों ने भावातिरेकता की अवस्था पर भी बहुत जोर दिया है। साधक को इसी भावातिरेकता की अवस्था में ब्रह्मानुभूति होती है जब तक साधक का कल्ब बिलकुल शुद्ध नहीं हो जाता तब तक ब्रह्मानुभूति चिरस्थायी नहीं होती। इस अवस्था को रहस्यवादी लोग आंशिक अनुभूति की अवस्था मानते हैं। जायसी में इनके बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। जब कल्ब बिलकुल शुद्ध हो जाता है तो माया और शैतान किसी का भी प्रभाव नहीं रह जाता तब साधक को शाश्वत अनुभूति की अवस्था प्राप्त होती है। दार्शनिक भाषा में इसे जीवन-मुक्ति की अवस्था कहते हैं। जायसी में इस अवस्था के चित्र नहीं मिलते हैं। उसका कारण यह है कि उनका साधक इस अवस्था को प्राप्त करके भी उसमें स्थिर नहीं रह पाता है। नागमती रूपी सांसारिकता के चक्कर में इस अवस्था को प्राप्त करने के बाद भी पड़ जाता है। जायसी के आध्यात्मिक रहस्यवाद के प्रसंग में उनकी अन्योक्ति को स्पष्ट करते समय इस बात पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

जायसी में हमें सूफी-साधना के चार पड़ावों की भी चर्चा मिलती है। वे एक स्थल पर लिखते हैं—

सार वसेरे सो चढे सत सो उतरे पार।

इन अवस्थाओं के अलग-अलग वर्णन जायसी में बड़ी रहस्यपूर्ण शैली में अभिव्यक्त किये गए हैं। हम जायसी के रहस्यवाद के प्रसंग में इनका संकेत कर चुके हैं।

सूफी-साहित्य एवं साधना में प्रतीकों का बहुत महत्त्व है। उस प्रियतम की अनुभूति वास्तव में गूँगे का गुड़ है, इसीलिए उसकी सम्यक् अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती। किन्तु यह मानव का स्वभाव है कि वह अनुभूतियों के वर्णन करने के लोभ का भी संवरण नहीं कर पाता है। इसीलिए वह अनिवर्चनीय और अनिर्वेद्य को निर्वेद्य और वचनीय बनाने का प्रयत्न करता है। सूफी आचार्य फारिज ने प्रतीकों के द्विधा महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "उनके प्रयोगों से दो लाभ प्रत्यक्ष होते हैं। एक तो प्रतीकों की ओट लेने से धर्म-बाधा टल जाती है, दूसरे उनके प्रयोगों से उन बातों की अभिव्यंजना भी सुलभ हो जाती है जिनके निदर्शन में वाणी मूक अथवा असमर्थ होती है।"[1]

सूफी-साधना का प्रधान तत्त्व रति है। रति का मुख्य उद्दीपक मदिरा है। इसीलिए सूफी-साधना में प्रेम और सुरा की बड़ी चर्चा मिलती है। रति का दाता ही प्रायः सुरा का दाता या साकी होता है। ये माशूक के सौंदर्य को परमात्मा का सौंदर्य समझते हैं। अल्लाह को ये लोग पुरुष रूप मानते हैं और रमणी को दिव्य प्रेम का प्रतीक कहते हैं। अराबी नामक सूफी ने लिखा है कि परमात्मा के दर्शन सदैव स्त्री रूप में ही किये जाने चाहिएँ।[2] जायसी पर सूफियों की स्त्री, सुरति और सुरा का भी पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। उन्होंने अराबी के

१ देखिए 'तसव्वुफ अथवा सूफी मत' द्वारा चंद्रबली पांडे, पृष्ठ १८।

२ देखिए 'स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टसिज्म' द्वारा निकलसन, पृष्ठ १६१।

सदृश ही पद्मावती नामक रमणी में परमात्मा के दर्शन किये हैं। 'पद्मावत' में पद्मावती का वर्णन सर्वत्र विराट् ब्रह्म के रूप में ही किया गया है। जायसी अन्य सूफियो के सदृश सुरा के प्रभाव से भी परिचित थे उन्होंने प्रेम को ही सुरा कहा है—

सुनयनि प्रेम सुरा के पिए।
जियन मरन डर रहै न हिए॥

दाम्पत्य-प्रतीको के अतिरिक्त सूफियो में विपरीतात्मक प्रतीको का भी प्रचार था। ये विपरीतात्मक प्रतीक कबीर की उलटवासियो से मिलते-जुलते हैं। कबीर पर इनका प्रभाव माना जा सकता है। जिली नामक सूफी की एक विपरीतात्मक उक्ति इस प्रकार है कि "मेरी प्रार्थना पर मेरी माताओं ने मुझसे प्रणय कर लिया।" एक दूसरे स्थल पर उसने पुन लिखा है कि मेरी माता ने मेरे पिता को जन्म दिया[१] कबीर ने भी इसी ढग की बहुत-सी उक्तियाँ लिखी हैं। उनकी एक उक्ति है—"बिटिया ने बाप जाओ।" ये उक्ति अरावी की उपर्युक्त उक्तियो के ठीक अनुरूप दिखलाई पडती है। इस प्रकार की उक्तियो के लिए मुक्तक काव्य मे अधिक स्थान रहता है इसीलिए जायसी में इस कोटि की उक्तियाँ नही पाई जाती है।

सूफी अधिकतर अद्वैतवादी होते है किंतु ये अद्वैतवाद एकेश्वरवाद की सीमा को छूता हुआ दिखाई पड़ता है। चन्द्रबली पाडे ने सूफियो के अध्यात्म पर विचार करते हुए लिखा है कि सूफियो के सामने सबसे बड़ी अडचन यही रही है कि उनको अपने अध्यात्म का आरम्भ अल्लाह से करना पडता है। यही कारण है कि उसमें अद्वैतवाद का प्रौढ

---

१ देखिए 'स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टेसिज्म' द्वारा निकनसन, पृष्ठ ११२-११३।

प्रतिपादन खुलकर नही हो पाता है।[1] जायसी की आध्यात्मिकता भी अन्य सूफियो के अनुरूप ही थी। उसमें एक ओर तो एकेश्वरवाद की झलक दिखाई पडती है और दूसरी ओर भारतीय अद्वैतता की। 'पद्मावत' में "बरनो आदि एक करतारू"-जैसी एकेश्वरवादी पक्तियाँ मिलती है और दूसरी ओर उनमें अद्वैतवादी ढंग की पक्तियाँ भी निम्नलिखित रूप में पाई जाती है—

आपुहि गुरु सो आपुहि चेला।
आपुहि सब औ आप अकेला॥
आपुहि मीच जीवन पुनि, आपुहि तन मन सोय।
आपुहि आप करै जो चाहे, कहाँ सो दूसर कोय॥

जायसी के अतिरिक्त कबीर भी सूफियो की कई बातो से प्रभावित थे। जायसी के सदृश उनमें भी कही-कही एकेश्वरीय अद्वैतवाद की झलक दिखाई पडती है। दाम्पत्य-भाव की सुरति और सुरा का प्रभाव भी कबीर के रहस्यवाद में ढूँढा जा सकता है। उनके रहस्यवाद का विवेचन करते समय इन बातो का निर्देश किया जा चुका है। अतएव हम उन्हे दोहराना नही चाहते है।

स प्रकार हम देखते है कि हिन्दी के रहस्यवादी जायसी और कबीर एक ओर तो भारतीय रहस्यवाद की विविध धाराओ की बहुत-सी बातो से प्रभावित है और दूसरी ओर उन पर सूफी रहस्यवाद की सुरति, सुरा आदि विविध तत्त्वो की छाया दिखाई पड़ती है। कबीर-जायसी आदि हिन्दी-कवियो के रहस्यवाद का अध्ययन उपर्युक्त रहस्य-वादी धाराओ के प्रकाश में ही करना चाहिए।

---

१ देखिए—'तसव्वुफ और सूफी मत,' लेखक चन्द्रबली पाडे पृष्ठ १३५।

कबीर का रहस्यवाद

: १ :

रहस्यवादी कबीर और उनके रहस्यवाद के प्रकार

आध्यात्मिक अनुभूतियो की रसमयी अभिव्यक्ति का नाम रहस्यवाद है। इस कोटि की अभिव्यक्ति का चरम सौंदर्य हमें महात्मा कबीर के काव्य म मिलता है। वे हमारी भाषा के एक महान् रहस्यवादी कवि हैं। अडरहिल ने उन्हे "The most interesting personalities of the Histoty of Indian mysticism" अर्थात् भारतीय रहस्यवाद के इतिहास में बडा ही रोचक व्यक्तित्व पूर्ण रहस्यवादी कहा है। वास्तव में बात सत्य है। कबीर में हमें रहस्यवाद के समस्त प्रकार और प्रक्रियाएँ मिलती हैं। उनमें अभिव्यक्ति के इतने स्वरूप मिलते है, इतनी प्रणालियाँ पाई जाती है कि उनका अध्ययन करना कठिन हो जाता है। फिर वे रहस्यवादी होकर भक्त, सुधारक योगी आदि न जाने क्या-क्या है। इन्ही सबसे उनका रहस्यवादी व्यक्तित्व अत्यन्त महान्, पूर्ण और रोचक लगता है।

भिन्न-भिन्न विद्वानो ने रहस्यवाद के स्वरूप को अपने-अपने ढग पर से समझाने की चेष्टा की है। किन्तु उसका स्वरूप आज भी अस्पष्ट है। इसका प्रमुख कारण यही है कि उसका वर्ण्य विषय आध्यात्मिक होता है। अध्यात्म सदैव से ही जटिल और अस्पष्ट रहा है। दर्शन का विवेच्य विषय भी अध्यात्म होता है। इसलिए वह भी अत्यन्त जटिल और दुरूह समझा जाता है। किंतु दर्शन और रहस्यवाद में अतर है। दर्शन की नीव बुद्धि पर [illegible] है। किंतु रहस्यवाद में

बुद्धि के साथ भाव का मधुर मिश्रण रहता है। भाव का अर्थ प्रेम भी होता है। कालिदास ने अपने 'कुमार-सम्भव' में इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है। इस प्रकार रहस्यवाद को हम विचार और प्रेम के मिश्रण से बना हुआ मधुर रसायन कह सकते हैं। Joyous mysticism नामक ग्रन्थ में यह बात दूसरे ढंग से कही गई है:—"Love and thought, these are the keys of the mystic realm" अर्थात् विचार और प्रेम रहस्यवादी संसार की चाबियाँ हैं। महात्मा कबीर के जीवन का लक्ष्य एक ओर तो अध्यात्म-निरूपण करना था तथा दूसरी ओर राम-रस या प्रेम-रस का पान करना भी था। यह बात उन्हीं के निम्नलिखित पद में स्पष्ट है—

"छाकि परयो आतम मतिवारा।
पीवत राम रस करत विचारा॥"

"बहुत मोलि महगें गुड़ पावा, लै कसाब रस राम चुवावा॥
तटन पाटन मैं कीन्ह पसारा माँगि-माँगि रस पीवै विचारा।
कहै कबीर फावी पीवत सब राम रस लगी खुमारी॥"

अर्थात् अध्यात्म-चिन्तन करते-करते उन्हें राम-रस की प्राप्ति हुई। उस राम-रस का पान करके उनकी आत्मा आनन्द से तृप्त हो उठी। बड़ी भारी विचारात्मक साधना के बाद सार रूप में राम-रस का मधुमय आसव मिला। उस आसव में इतनी दिव्य मधुरिमा है कि कबीर का साधक 'माँगि-माँगि' कर अर्थात् बार-बार याचना करके उस रस का पान करता है। किन्तु फिर भी उसकी तृप्ति नहीं हो पाती। उस विचार-मूलक राम-रस का पान करते-करते साधक को खुमारी लग जाती है। वह अनिर्वचनीय रस रूप ब्रह्म की अनुभूति करने लगता है। कबीर का दृढ विश्वास था कि सच्ची रसानुभूति गूढ अध्यात्म-चिन्तन के फलस्वरूप ही होती है।

"आप ही आप विचारिए तब केता होय अनंद रे"

विचारमूलक इस राम-रस की प्राप्ति हो जाने पर ससार के सभी अन्य रस विस्मृत हो जाते है—

"राम रस पाइया रे ताथे विसरि गए रस और"

इसी राम-रस को पीकर शिव-सनकादि भी आनन्द-निमग्न रहते थे—

"इहि रसि सिव सनकादिक माते पीवत अजहुँ न अघाय।"

कबीर के रहस्यवाद की महत्ता का रहस्य उनके अध्यात्म-चिन्तन-जनित राम रस में अन्तर्निहित है। राम-रस को हम अधिक स्पष्ट शब्दो में चिन्तन-जनित अनन्य प्रेममूलक आनन्द कह सकते है। महात्मा कबीर के व्यक्तित्व का यह सबसे महान् वैशिष्टय था कि शुष्क अध्यात्म चिन्तन को मथकर वे 'राम-रस' रूपी मधुमय दिव्य नवनीत निकाल लेते थे। उनके व्यक्तित्व के इस वैशिष्टय के मूल में उनकी प्रवृत्ति की विचारात्मक भावुकता थी। वे विचारक के साथ-साथ भावुक भी थे। उनकी वाणी के एक-एक शब्द से विचारात्मकता और भावुकता का मधुमय मिश्रण टपकता है।

अभी हम पीछे सकेत कर चुके है कि कबीर में उच्च कोटि की विचारात्मकता के साथ-साथ सरस भावुकता की मधुमयी सुसगति पाई जाती है। यहाँ पर उनकी इन दोनो विशेषताओ पर सक्षेप में विचार कर लेना अनुचित न होगा। कबीर की यह विचारात्मकता दार्शनिको की विचारात्मकता से भिन्न थी। दार्शनिको की विचारात्मकता शुष्क, तर्क-मूलक बुद्धि-प्रधान एव गूढ चिन्तना-जनित होती है। कबीर की विचारात्मकता राम-रस से सराबोर होने के कारण कही भी शुष्क, नीरस और कोरी बुद्धि-प्रधान नही प्रतीत होती। वह तर्कना-प्रधान भी नही थी। तर्क-वितर्क करना वे स्थूल बुद्धि का कार्य मानते थे। उन्होने एक स्थल पर लिखा है जो लोग अद्वैत तत्त्व की द्वैतता तर्क के सहारे सिद्ध करना

चाहते हैं उनकी बुद्धि स्थूल होती है।

"कहै कबीर तरक दुइ साधै तिनकी मति है मोटी।"

कबीर की विचारात्मकता के विकास में उनकी अलौकिक प्रतिभा भी बहुत अधिक सहायक हुई थी। प्रतिभा का कार्य नये-नये विचारो और भावो को जन्म देना होता है। वह उच्चकोटि की काव्य-विधात्री भी मानी गई है। संस्कृत आचार्यों ने इसको बहुत अधिक महत्त्व दिया है। उनकी विचारात्मकता प्रतिभामूलक होने के कारण ही अनेकानेक मौलिक आध्यात्मिक चित्रो को प्रस्तुत करने में समर्थ हुई है। ये आध्यात्मिक चित्र उनकी सरस भावुकता से अनुप्राणित होकर और भी अधिक मधुर, सजीव एव आकर्षक बन गए हैं। सच तो यह है कि भावुकता ने ही उनके आत्म विचार को सरस काव्य के रूप में अभिव्यक्त किया है। वे उच्चकोटि के विचारक एव अध्यात्म-चिंतक होने के साथ-ही-साथ परम भावुक भी थे यह हम अभी कह चुके है। सच्चे भावक की यही पहचान है कि वह शुष्क को मधुर और निर्जीव को सजीव, बना देता है। इस सजीवता, सरसता आदि की प्रतिष्ठा वह कल्पना के द्वारा लाए हुए मधुर चित्रो, स्वाभाविक साहित्यिकता एव सात्विक सहानुभूति के सहारे करता है। इसके लिए उसे जड में भी मानव रूप और हृदय का आरोप करना पड़ता है। शुष्क आध्यात्मिक तथ्यो को चित्र रूप में प्रस्तुत करने के लिए उसे मधुर परि-स्थितियो एव पदार्थमूलक रूपको तथा ध्वनि-प्रधान अन्योक्तियो की योजना करनी पडती है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित अवतरण प्रस्तुत करते हैं। इन अवतरणो में आत्मा और परमात्मा के मिलन का आध्यात्मिक तथ्य वर्णित है। इस तथ्य को कवि ने दाम्पत्य-प्रतीक एव विवाह आदि के रूपको के सहारे बड़े ही सुन्दर एव भावपूर्ण ढग से प्रतिष्ठित किया है—

दुलहिन गावहु मंगलचार।
हम घरि आए हो राजा राम भरतार ॥ टेक ॥

तन रति करि मैं मन रति करिहौं पञ्चतत्त बराती ॥
रामदेव मोरे पाहुँन आए मैं जोबन मदमाती ॥"[1] इत्याद

और देखिए—

"बहुत दिनन थे प्रीतम पाए ।
भाग बड़े घर बैठे आए ॥ टेक ॥

मंगलचार माहि मन राखौ राम रसाइन रसना चाखौ ।
मन्दिर माहि भया उजियारा ले सूती अपना पीव पियारा ॥
मैं रनि रासी जे निधि पाई हमहि कहा यह तुम्हहि बड़ाई ।
कहै कबीर मैं किछु नहि कीन्हा सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा ॥"

उपर्युक्त ढग पर आध्यात्मिक विषय को लेकर काव्यत्व और भावुकता के सहारे अभिव्यक्त की हुई उक्तियाँ ही रहस्यवाद की सच्ची उक्तियाँ कही जायँगी। कबीर की रचनाएँ इस प्रकार की मधुर एव भावपूर्ण आध्यात्मिक अनुभूतियो और चित्रो का वृहत् कोष है, इस प्रकार की समस्त उक्तियाँ उनके अनुभूतिमूलक रहस्यवाद के अन्तर्गत आती है।

रहस्यवाद का विस्तार बहुत व्यापक है। उसके अन्तर्गत किसी भी प्रकार की साधनामूलक रहस्य-वर्णनाएँ भी आ सकती है। यही कारण है कि कुछ रहस्यपूर्ण यौगिक वर्णनो को भी रहस्यवाद के अन्तर्गत माना जाता है। कबीर सच्चे योगी थे, अत उनमें यौगिक रहस्यवाद भी पाया जाता है। कभी-कभी रहस्यवाद की सर्जना कोरे पारिभाषिक शब्दो के सहारे या विविध प्रकार की बुद्धिमूलक चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति-प्रणालियो के सहारे भी हो जाया करती है। कबीर के काव्य में उपर्युक्त प्रकार के रहस्यवाद भी पाए जाते है। इस प्रकार स्थूल रूप से उनमें हमें रहस्यवाद की तीन स्पष्ट धाराएँ मिलती है—

(१) अनुभूतिमूलक रहस्यवाद
(२) साधनात्मक या यौगिक रहस्यवाद
(३) अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद

[1] 'कबीर ग्रथावली', पृ० ८७।

: २ :

कबीर का अनुभूतिमूलक रहस्यवाद

रहस्यवाद में *अनुभूति का महत्व*—पहले हम अनुभूतिमूलक रहस्यवाद पर विचार करेंगे। जिस प्रकार बुद्धिमूलक तर्क दर्शन की आधार-भूमि है उसी प्रकार हृदयमूलक अनुभूति इस कोटि के रहस्यवाद की पृष्ठभूमि है। जब भारतीय दार्शनिकों ने अध्यात्म-चिंतन में तर्क की असमर्थता समझ ली तो फिर उन्हें *'नैषा मतिः तर्केण आपनीया'* *'तर्काप्रतिष्ठानात्'* जैसी उक्तियाँ लिखनी पड़ी। फलस्वरूप दर्शन के क्षेत्र में अनुभव की मान्यता प्रतिष्ठित हो चली। केवल भारतीय दार्शनिकों ने ही अनुभव की महत्ता नहीं स्वीकार की वरन् पाश्चात्य दार्शनिकों में भी इसकी प्रतिष्ठा हुई। जे० एस० मेकेंजी साहब ने आउट लाइन्स आफ मेटाफिजिक्स में अध्यात्म विद्या के लक्षण में अनुभव शब्द का प्रयोग किया है। उनके मतानुसार "अध्यात्म विद्या उस विद्या को कहते हैं जिसमें अनुभव का सार रूप से विचार होता है।" राधाकृष्णन् की अध्यात्म-सम्बन्धी परिभाषा भी ऐसी ही है। उन्होंने लिखा है "अध्यात्म विद्या उस विद्या को कहते हैं जिसमें मुख्यत अनुभूतिगत तत्त्व का विचार किया जाय।" रहस्यवाद में अनुभव की मान्यता दर्शन से भी अधिक है। किन्तु दोनों में अन्तर है। अध्यात्म विद्या में अनुभूतिगत तत्त्व का विचार होता है जब कि रहस्यवाद में तत्त्व की अनुभूतिमूलक अभिव्यक्ति होती है। (अनुभूति का सम्बन्ध प्रधानत हृदय से होता है। रहस्यवाद में रहस्यमय की हृदयमूलक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की जाती है। इस अभिव्यक्ति में

हृदय की भाव-प्रवणता, सुकोमलता और सरसता भरी रहती है। यही कारण है कि अनुभूतिमूलक रहस्यवाद अत्यधिक भाव-प्रवण, सरस और सुकोमल होता है। हम पहले बता चुके है कि कबीर में विचारात्मकता और भावुकता दोनो का सुन्दर समन्वय पाया जाता है। इसीलिए उनमें अध्यात्म-चिन्तन के साथ-साथ सरस रहस्यानुभूति भी पाई जाती थी।

आस्तिकता—सच्चे रहस्यवादी साधक की सबसे प्रधान विशेषता उसकी आस्तिकता है। उसमें अपने आराध्य के अस्तित्व के प्रति दृढ निष्ठा होनी चाहिए। नास्तिक कभी रहस्यवादी हो ही नही सकता। सम्भवत. इसीलिए पाश्चात्य विद्वान् रूडोल्फ ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ Mysticism in East and West में आस्तिकता को रहस्य-वाद की आधार-भूमि कहा है। जहाँ तक कबीर की आस्तिकता का सम्बन्ध है उसके विषय में दो मत नही हो सकते। वे कट्टर आस्तिक थे। वे स्पष्ट कहते है—

"मेरे सगी दुई जना एक वैष्णव एक राम।
एक दाता है मुकति का एक सुमिरावै राम।"

जिज्ञासा—वे मुक्ति देने वाले अपने आराध्य राम से मिलने के हेतु पागल थे। उनके सम्बन्ध में सब-कुछ जानने के लिए उनकी आत्मा व्याकुल थी उनके दर्शनो के लिए वे लालायित थे। देखिए निम्न लिखित पक्तियो में उनकी प्रियतम जिज्ञासा की कितनी औत्सुक्यपूर्ण व्यजना मिलती है—

"हो बलियाँ कब देखौंगी तोहि।
अहनिस आतुर दरसन कारनि, ऐसी व्यापै मोहि॥
नैन हमारे तुम्हकूँ चाहै, रतीं न मानैं हारि।
बिरह अगिन तन अधिक जरावै, ऐसा लेहु विचारि॥
सुनहु हमारी दादि गुसाँई, अब जिन करहु बधीर।
तुम्ह धीरज मैं आतुर स्वामी, काँचै भाँडै नीर॥

बहुत दिनन के बिछुरे माधै, माधौ मन नहीं बाँधै धीर।
देह छताँ तुम्ह मिलहु कृपा करि, आरतिवंत कबीर ॥"

रहस्यवादी साधक का पात्रत्व—रहस्यवाद भी एक प्रकार की आध्यात्मिक साधना है। हमारे यहाँ आध्यात्मिक साधक के पात्रत्व पर विशेष विचार किया गया है। कठोपनिषद् में लिखा है—

"नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहितः।
नाशात मानसो वापि प्रज्ञानेनैतमाप्नुयात ॥

अर्थात् जो पाप-कर्मों से निवृत्त नही हुआ है जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नही है और जिसका चित्त असमाहित या अशात है, वह इसे आत्मज्ञान द्वारा प्राप्त नही कर सकता है।

कठोपनिषद् की यह उक्ति रहस्यवादी साधक पर भी पूर्ण रूप से लागू होती है। वास्तव में रहस्यवाद की साधना तव तक सफल नही होती जव तक साधक पाप-कर्मों से निवृत्त नही होता, उसका मन अशात रहता है तथा उसकी इन्द्रियाँ उसके अधीन नही होती। महात्मा कबीर सच्चे अध्यात्म साधक थे। वे पाप कर्मों से निवृत्त हो चुके थे, उनकी इन्द्रियाँ उनके अधीन थीं, उनका मन शान्त था, वे वास्तव में जीवन्मुक्त की दशा को प्राप्त हो चुके थे।

"मै मंता अविगत रता अकलप आसा जोति।
राम अमलि माता रहैं जीवत मुकुति अतीत ॥"

उपास्य-स्वरूप—अव थोडा-सा रहस्यवादी के उपास्य स्वरूप पर विचार कर लिया जाय। रहस्यवादी का उपास्य भक्त के उपास्य से भिन्न होता है। भक्त का उपास्य सगुण और साकार होता है। उसकी प्रतिष्ठा लोक के वीच रहती है। तुलसी ने उसका संकेत इस प्रकार किया है —

"अतर्जामिहु ते वड़ बाहिर जामी।
राम जो नाम लिए ते ॥

पैज पहे प्रल्हादहु के।
प्रगटे प्रभु पाहन ते न हिये ते॥"

इससे स्पष्ट है कि भक्त का उपास्य स्वरूप ठीक वही होता है जो समाज में मान्य होता है। समाज के उपास्य से भक्त का उपास्य भिन्न नही होता। किन्तु रहस्यवादी का प्रियतम सगुण और निर्गुण दोनो ही होता है। निर्गुण तो इस अर्थ में कि - लोक में वह उस रूप में प्रतिष्ठित नही होता जिस रूप में रहस्यवादी उसे मानता है। तथा सगुण इस अर्थ में कि वह रहस्यवादी के हृदय में मूर्तिमन्त रहता है। रहस्यवादी उपास्य के स्वरूप की विशेषताओं पर अन्डरहिल ने एक वाक्य में ही बहुत अच्छा प्रकाश डाल दिया है—

"The absolute of the mystics is lovable attainable alive and personal" अर्थात् रहस्यवादियो का निर्गुण उपास्य प्रेम करने योग्य, प्राप्त करने योग्य सजीव और वैयक्तिक होता है। इस परिभाषा में रहस्यवादी उपास्य की निम्न लिखित विशेषताएँ निर्दिष्ट है—

(१) वह निर्गुण होते हुए भी '
(२) प्रेम करने योग्य।
(३) प्राप्त करने योग्य।
(४) सजीव एव।
(५) वैयक्तिक होता है।

रहस्यवादी कबीर के उपास्य में यह सभी विशेषताएँ पाई जाती है। इनके अतिरिक्त उनकी अपनी एक अलग विशेषता है। कबीर भारतीय मर्यादावादी भक्त सत थे। उनकी भक्ति-भावना का प्रभाव उनके रहस्यवादी ब्रह्म पर भी पडा है। यही कारण है कि वह सूफी रहस्यवादियो के उपास्य की भाँति प्रियतम न होकर पति है। अत वह अधिक मर्यादामय और पूज्य बन गया है। कबीर वेदान्ती दार्शनिक भी

थे, इसीलिए उन्होंने ब्रह्म का ही निरूपण निर्गुण निराकार निरंजन तत्त्व रूप में किया है। किन्तु वे उन कोरे दार्शनिकों के वर्णनों की भांति शुष्क नीरस नहीं हैं। उनके रहस्यवाद ने उसमें प्राण-प्रतिष्ठा कर दी है। यही कारण है उन्होंने जहां अपने उपास्य को "पुहुप बास से पातरा ऐसा तत्त्व अनूप" कहा है वहीं उसे "कबीर का स्वामी गरीब निवाज" "हरि मेरा पीउ मैं हरि की बहुरिया" और "हम घर आए हो राजाराम भरतार", "सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा" आदि निराकार एवं सजीव वैयक्तिक, प्राण रखने योग्य प्रेम करने योग्य, पूजा करने योग्य आदि भी ध्वनित कर दिया है। रहस्यवादी कबीर की यह अपनी विशेषता थी। उनके रहस्यवादी उपास्य स्वरूप पर कहीं-कहीं योग का प्रभाव भी पड़ गया है। जिसके फलस्वरूप उन्होंने अपने प्रियतम को "सुनि मंडलवासी" रूप भी दिया है। किन्तु उनके रहस्यवाद में इस प्रकार की उक्तियां बहुत नहीं हैं।

प्रेम और सौन्दर्य—पहले हमने रहस्यवादी उपास्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि उसे प्रेम करने योग्य होना चाहिए। मनुष्य का स्वभाव है कि वह प्रेम उसीसे करता है, या तो जिसके रूप को देखकर वह मुग्ध होता है या जिससे उसका कुछ स्वार्थ सिद्ध होता है। रहस्यवादी सच्चा संत और साधक होता है। वह लोक के स्वार्थादि तुच्छ बन्धनों से ऊपर उठकर अपनी मधुमयी साधना में ही लीन रहता है। वह सौन्दर्य-प्रिय भी होता है। उसका भावप्रवण और कोमल हृदय अपने प्रियतम के सौंदर्य पर रीझकर उसके अनन्य प्रेम में डूब जाता है। इस प्रकार सौन्दर्य और प्रेम दोनों की ही रहस्यवाद में बड़ी प्रतिष्ठा है।

कुछ सूफियों ने तो इन तत्त्वों को ही ईश्वर का रूप कल्पित कर लिया है। इब्नेसिना सौन्दर्यवादी थे। वे अपने उपास्य को सौन्दर्य-रूप मानते थे। मंसूर हल्लाज सौन्दर्य के उपासक होते हुए भी प्रधानत प्रेमवादी थे। वे

अपने प्रियतम को प्रेम रूप मानते थे। महात्मा कबीर यद्यपि सूफियो से प्रभावित हुए थे, किन्तु वे मूलत भारतीय भक्त थे। यही कारण है कि उनमें सौन्दर्यवाद और प्रेमवाद का वह मधुरतम रूप नही मिलता जिससे हिन्दी के सूफी कवि जायसी का काव्य रसमय है। प्रेम के मादक वर्णन तो कवीर में मिल भी जाते है, किन्तु सौन्दर्य-वर्णन में तो उन्होने पूरी कृपणता दिखाई है। उनके समस्त काव्य में शायद ही कही प्रियतम के सौन्दर्य का कोई हृदयाकर्षक एव रमणीय चित्र चित्रित किया गया हो। उन्होने अपने प्रियतम के रूप की कल्पना साक्षात् प्रेम रूप में की है। साहित्य में प्रेम का रग लाल माना जाता है। कवीर सर्वत्र अपने प्रियतम की लालिमा ही देखते है। वे उसमें इतने तन्मय हो जाते है कि स्वय भी लाल हो जाते है—

"लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी होगइ लाल॥"

कुछ स्थलो पर तो उन्होने प्रियतम के रूप की कल्पना ज्योति के रूप में भी की है। ऐसे वर्णनो पर सम्भवत यौगिक ज्योतिवाद का प्रभाव पडा है—

"कबीर तेज अनंत का मानो ऊगी सूरज सेरिए।
पति सग जागी सुन्दरी कौतिक दीठा तेरिए॥"

महात्मा कबीर सौन्दर्य की अपेक्षा प्रेम के अधिक उपासक थे उनका प्रेमभाव सूफियो और भक्तो दोनो के प्रेम तत्त्वो का मधुमय मिश्रित रसायन है। उन्होने उसे राम रसायन की सज्ञा दी है—

"राम रसायन प्रेम रस पीवत नहीं अघाय।"

कबीर का यह रसायन ससार के अन्य सभी रसायनो से अधिक श्रेयस्कर है। यदि इसका तिल-भर भी साधक को मिल जाय, तो वह कन्चन रूप हो सकता है।

"सभी रसायण मैं पिया हरि सा और न कोई ।
तिल एक घट में संचरे तो सबतन कंचन होई ॥"

यह रसायन वही त्यागी एव तपस्वी पी सकता है जो अपना सिर सौंपने को प्रस्तुत हो।

(1) *राम रसायन प्रेम रस पीवत अधिक रसाल ।*
कबीर पीवण दुर्लभ है माँगै सीस कलाल ॥
(ii) *कबीर माटी कलाल की बहुतक बैठे आय ।*
सिर सौंपे सोई पिये नहीं तो पिया नहीं जाय ॥

इस राम रसायन को पीकर साधक मदमस्त हो जाता है—

हरि रस पीया जाणिए कबहु न जाय खुमार ।
मैं मता घूमत रहे नाही तन की सार ॥

इस राम रस का विचार पूर्वक पान करके साधक अनन्त तृप्ति का अनुभव करने लगता है—

छाकि परयो आतम मातवारा ।
पीवत राम रस करत विचारा ॥ टेक ॥
बहुत मोलि मंहगै गुड़ पावा ले कसाव रस राम चुवावा ॥

इस राम रस का पान करके साधक ससार के अन्य सभी रसो को भूल जाता है।

राम रस पाइया ताथैं विसरि गए रस और ॥ टेक ॥ इत्यादि

जैसा कि ऊपर सकेत कर चुके है कबीर की प्रेम-साधना सूफियो से ही नही भक्तो से भी प्रभावित थी। इसीलिए मदमस्त बनाने वाले 'राम रसायन' के मधुर वर्णनो के साथ वे *"प्रेम भगति हिडोलना"* की भी चर्चा करते है। यह 'प्रेमभगति हिंडोलना' सब सन्तो का विश्राम-स्थल है।

हिंडोलना तह भूलैं आतम राम ।
प्रेम भगति हिंडोलना भूले सब सतनि को विश्राम ॥

गुरु का कार्य—ऊपर जिस 'राम रसायन' और प्रेम-भक्ति की चर्चा

हमने की है। उसकी प्राप्ति कबीर को अपने गुरु से हुई थी—

गुरु ने प्रेम का अंक पढाय दिया रे।

यह प्रेम केवल आसक्ति रूप ही न था। वह ज्ञान का ज्योति मे ज्योतिर्मय भी था। इसीलिए कबीर ने उसकी उपमा दीपक से दी है।

"पीछे लागा जाय था लोक वेद के हाथ।
आगे थे सद्गुरु मिला दीपक दीया हाथ॥"

इस प्रेम दीपक के लिए कबीर गुरु के आजन्म ऋणी रहे थे। इसका प्रतिदान ससार में उन्हें दिखाई ही नही पडा।

"राम नाम के पटन तरे देवे को कछु नाहि।
क्या ले गुरु संतोषिए हौंस रही मन माहि॥"

इस राम के प्रेम ने कबीर को मनुष्य से देवता बना दिया है इसीलिए कबीर अपने गुरु की बलिहारी है—

"बलिहारी गुरु आपणे दयौं हॉड़ी को बार।
जिनि मानस ते देवता करत न लागी वार॥"

गुरु ही साधक को इस शरीर के परिष्करण की ओर उन्मुख करता है। इस बात की कबीर के नाम से प्रचलित इस पद में बडी ही सुन्दर अभिव्यक्ति पाई जाती है। यह पद रूपात्मक प्रतीक शैली का बडा सुन्दर उदाहरण है, इसमें कबीर ने धोबी के प्रतीक से गुरु की अभिव्यक्ति की है। चुनरी शरीर का प्रतीक मानी जा सकती है, रगरेज को हम ब्रह्म का प्रतीक कह सकते है—

"नैहर में दाग लगाई आई चुनरी।
रँगरेजवा के मरम न जाने नहि मिलै धोबिया कवर करै उजरी॥
तन के कूँड़ी ज्ञान के सउँदन साबुन महँग बिकाय या नगरी।
पहिरि ओढि कै चली ससुरिया गाँवों के लोग कहैं बड़ी फुहरी॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो बिन सतगुरु कबहूँ नहिं सुधरी॥

गुरु-प्रदत्त यह प्रेम-तत्त्व ज्यो-ज्यो विकसित होता जाता है त्यो-त्यो

रहस्यवादी कवि रहस्यानुभूति के मार्ग में अग्रसर होता जाता है। अन्त में एक वह अवस्था आती है जब साधक अपने साध्य से अथवा प्रियतमा अपने प्रियतम से मिलकर एक हो जाते हैं। इसी बात को रहस्यवाद का सूक्ष्म शास्त्रीय अध्ययन करने वाली पाश्चात्य महिला एवलिन अण्डरहिल ने दूसरे ढंग से लिखा है वे लिखती हैं—

"There is a spark in man's soul which is real and by its cultivation we may know reality"

अर्थात् मानव-आत्मा में एक प्रकार का ऐसा प्रसुप्त स्फुलिङ्ग होता है जिसको पुनर्जीवित करके रहस्यवादी साधक सत्यानुभूति कर सकता है। एक दूसरे स्थल पर उन्होंने उपर्युक्त बात दूसरे ढंग से रखी है—"The spark of soul sleeps in the normalself the business of the mystic is to wake it up." अर्थात् आत्म-ज्योति साधारणतया व्यक्ति में प्रसुप्त रहती है। रहस्यवादी का कर्त्तव्य उस आत्म-ज्योति को प्रज्वलित करना है। इस आत्म-ज्योति को प्रज्वलित करने वाला सबसे प्रधान तत्त्व प्रेम ही है। गुरु यही तत्त्व शिष्य को देता है। शिष्य इसको प्रदीप्त करता रहता है। इसकी प्रदीप्ति-साधना सरल नहीं होती इसमें एक जन्म की साधना से ही काम नहीं चलता। इसके लिए जन्म-जन्मान्तर की साधना अपेक्षित होती है। इसीलिए तो रहस्यवादियों को जन्मान्तरवाद मानना पड़ा है। अण्डरहिल ने यह बात निम्नलिखित शब्दों में स्वीकार की है - "The mystics way is long and thorny The journey has to be made birth after birth" अर्थात् रहस्यवादी का मार्ग लम्बा और कण्टकाकीर्ण होता है, अतः यात्रा जन्म-जन्मान्तर में पूर्ण होती है।

कबीर भी इसे मानते थे। उन्होंने एक स्थल पर स्पष्ट लिखा है कि उस अलेख के दर्शन प्राप्त करने के लिए केवल इस जन्म के ही कर्म

पर्याप्त नही होते। उसके लिए कुछ पूर्व जन्म के कर्मों की तथा कुछ ईश्वरेच्छा की अपेक्षा भी होती है।

"कुछ करनी कुछ करम गति कुछ पूरवला लेख।
देखो भाग कबीर का दोसत किया अलेख॥"

इस साधना की प्रक्रिया मुख्यत अन्तर्मुखी होती है। टालर नामक पाश्चात्य रहस्यवादी ने अन्तर्मुखी साधना की प्रक्रिया इस प्रकार बतलाई है—

"When through all manner of exercises the outer man has been converted to the inward man then God, head nackedly, descends in the depths of the pure soul, so that the spirit becomes one with him" [१]

अर्थात् जब साधक विविध साधनाओ के फल स्वरूप बाह्य पुरुष का आन्तरिक पुरुष से तादात्म्य स्थापित कर लेता है, तभी ईश्वरत्व की शुद्ध आत्मा में अवतारणा होती है। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा का ऐक्य स्थापित हो जाता है।

अंतर्मुखी प्रक्रिया—इस अन्तर्मुखी साधना का उल्लेख कठोपनिषद् में बडे सुन्दर ढग से किया गया है —

"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वभू,
तस्मात् पराङ् न पश्यतिनांतरात्मन्।
कश्चिद्धीर. प्रत्यगात्मानमैक्ष.
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।"

अर्थात् स्वय परमात्मा ने इन्द्रियो को बहिर्मुखी करके हिंसित कर दिया है। इसीसे जीव बाह्य विषयो को देखता है, अन्तरात्मा को नही। जिसने अमरत्व की इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियो को रोक

१ 'Mysticism in Maharastra Preface, page 6'

लिया है ऐसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्मा को देख पाता है।

कबीर की साधना पूर्ण अन्तर्मुखी थी, उनकी 'उलटी चाल' और 'शब्द सुरति योग' अन्तर्मुखी साधना से ही सम्बन्धित है। उनका दृढ़ विश्वास था कि सहज समाधि की अवस्था वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने पर ही प्राप्त होती है। यह वृत्तियां जब तक बहिर्मुखी रहती हैं तब तक शरीर कोटि-कोटि उपाधियों से ग्रस्त रहता है—

"तन महि होती कोटि उपाधि।
उलटि भई सुख सहज समाधि॥"

जीवन-मुक्ति की अवस्था भी मन को अन्तर्मुख करने से ही प्राप्त होती है—

"अब मन उलटि सनातन हुआ तब जान्या जीवतमृता"

कबीर ऐसे ही साधक को सच्चा साधक मानते थे उन्हीं को वे अपना गुरु बना सकते थे—

"उलटी चाल मिले पर ब्रह्म सो सद्गुरु हमारा।"

महात्मा कबीर का शब्द सुरति योग बहुत प्रसिद्ध है। इसे हम प्राचीन लय योग का रूपान्तर कह सकते हैं। इसका सम्बन्ध शब्दवाद से है। इस सिद्धान्त का संकेत उपनिषदों में बार-बार किया गया है। आगे चलकर भर्तृहरि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ वाक्यपदीय में इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा की। उपनिषदों का प्रणववाद प्रसिद्ध शब्दवाद का ही रूपान्तर है। प्रणववादी साधक की साधना का संकेत करते हुए श्रुति में लिखा है—

"प्रणवो धनुः शरोहि आत्मा ब्रह्म तल्लक्ष्य मुच्यते।
अप्रमत्तेन वेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥"

अर्थात् आत्मा बाण और ब्रह्म लक्ष्य है, जिस प्रकार एक कुशल वेधक के द्वारा छोड़ा हुआ बाण सीधा निशाने को वेधकर उसमें समा जाता है, उसी प्रकार आत्मा को भी सीधे ब्रह्म में जाकर लीन हो जाना चाहिए। शब्द सुरति योग की साधना भी ठीक इसी प्रकार की है। सुरति रूपी

आत्मा का शब्द रूपी ब्रह्म में लय करना ही शब्द सुरति योग है। "जो ब्रह्माण्डे सो पिण्डेजान" के सिद्धान्त के अनुयायी इस शब्द सुरति की साधना अपने पिण्ड में ही करते है। उस स्थिति में वे बहिर्मुखी जीव का अन्तर्वासी शुद्ध-बुद्ध मुक्त नित्यस्वरूपी प्रत्यगात्मा से तादात्म्य स्थापित करते हैं। इसके लिए वे बहिर्गामी जीव को अन्तर्मुखी करते हैं। जीव को अन्तर्मुखी करने के लिए वे कभी तो हठयोग की साधना करते हैं कभी मन-साधना अपनाते हैं और कभी भावना का आश्रय ग्रहण करते हैं। जब मन-साधना एवं शुद्ध भावना से प्रेरित होकर बहिर्मुखी जीव अपने प्रियतम रूपी प्रत्यगात्मा से एकाकारिता प्राप्त करना चाहता है, तभी भावात्मक रहस्यवाद की अन्तर्मुखी प्रक्रिया सम्पन्न होती है। महात्मा कबीर की अन्तर्मुखी प्रक्रिया अधिकतर हठयोगमूलक ही है। उसका वर्णन साधनात्मक रहस्यवाद के अभिधान से किया जायगा। भावना प्रेरित प्रक्रिया के दर्शन उनमें केवल दो-चार स्थलो पर ही होते हैं। इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप उन्हें उस महल के दर्शन ही होते हैं जिसे मुनिजन भी देख पाते हैं—

"मुनिजन महल न पावई तहाँ किया विश्राम।"

बहिर्मुखी प्रक्रिया—रहस्यवाद की इस अन्तर्मुखी प्रक्रिया के विरुद्ध उसकी एक बहिर्मुखी प्रक्रिया भी होती है। इन दोनो प्रक्रियाओ को स्पष्ट करते हुए अडरहिल ने लिखा है—"The full spritual Consciousness of the pure mystics is developed not in one but in two apparently opposite 'direchtions.On one hand he sees the sacramental unity with the whole world. Secondly he develops the power of apprehending truth" अर्थात् सच्चे रहस्यवादी का आध्यात्मिक विकास दो विरोधी धाराओ में उन्मुख होता है। एक से तो वह सारे ससार में एकात्मता का अनुभव करता है। दूसरे से

वह रहस्यमय सत्य की अनुभूति करता है। कबीर के रहस्यवाद की अन्तर्मुखी प्रक्रिया की थोड़ी-सी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। साधनात्मक रहस्यवाद पर विचार करते समय इस पर थोड़ा विस्तार से विचार करेंगे। अब हम उनके रहस्यवाद की बाह्यात्मक प्रक्रिया पर थोड़ा सा प्रकाश डाल देना चाहते हैं।

बहिर्प्रक्रिया के दो पक्ष—सारी सृष्टि से एकात्मता का अनुभव करना भारतीय धर्म और दर्शन की प्रधान विशेषता रही है। वेद के 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' 'रूप-रूप प्रतिरूपो बभूव' आदि उक्तियाँ इसी एकात्मता की ओर संकेत कर रही हैं। भगवान् ने गीता में इस एकात्मता को ज्ञान की पराकाष्ठा या सात्विक ज्ञान कहा है—

"सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तद्ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ॥"

महात्मा कबीर भारतीय संत थे। उनकी आत्मा इस सात्विक ज्ञान से भरपूर थी। उनका यह सात्विक ज्ञान दो धाराओं में विकसित हुआ है—अद्वैतवाद के रूप में और साम्यवाद के रूप में।

अद्वैतवाद की प्रस्थापना—अद्वैतवाद भारतीय वेदान्त-दर्शन का सबसे मान्य सिद्धान्त है। इसके अनुसार ब्रह्म ही एक-मात्र सत्ता है। सब-कुछ ब्रह्म ही है। जीव और ब्रह्म में कोई तात्विक भेद नहीं। जो भेद हमें दिखाई पड़ता है, वह मायामूलक है। माया अनिर्वचनीय है। माया का जब ज्ञान से निराकरण हो जाता है तभी जीव ब्रह्म रूप हो जाता है। अद्वैतवादी जगत् को मिथ्या मानते हैं। उनके अनुसार जगत् माया विनिर्मित होते हुए भी ब्रह्म में प्रतिष्ठित है। संक्षेप में यही अद्वैत का सिद्धान्त है। रहस्यवाद की बहिर्मुखी प्रक्रिया भी साधक को अद्वैतता का अनुभव कराती है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि दार्शनिक अद्वैतवाद कोरा सिद्धान्त-कथन-मात्र होता है। किन्तु रहस्यवाद में साधक अद्वैतता और एकात्मता का प्रत्यक्ष अनुभव करता

है। इस प्रकार दर्शन का सिद्धान्त रहस्यवादी के जीवन का एक अंग बन जाता है। महात्मा कबीर ने रहस्यानुभूति की इस बहिर्प्रक्रिया की अभिव्यक्ति स्थूल रूप से तीन प्रकार से की है—

(१) सर्वत्र प्रियतम के दर्शन करने से
(२) रूपकों और दृष्टान्तो के माध्यम से
(३) सिद्धान्त-कथन के ढंग पर

प्रथम प्रकार की अभिव्यक्ति के उदाहरण रूप में हम उनकी यह प्रसिद्ध साखी दे सकते है। कबीर सर्वत्र ही अपने लाल की लाली देखते हैं यहाँ तक कि स्वयं भी लाल रूप हो जाते हैं—

"लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥"

दूसरे प्रकार की अभिव्यक्ति का यह उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है—

"जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तत कथ्यौ गियानी॥"

तीसरे प्रकार के उदाहरण रूप में निम्न लिखित पंक्तियाँ दी जाती है। उन्हें हम सर्वं का सर्वं खल्विद रूपान्तर कह सकते हैं—

"लोका जानि न भूलो भाई।
खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्यौ समाई॥"

साम्यवाद प्रतिष्ठा—महात्मा कबीर ने आदर्श साम्यवाद की स्थापना की थी। उनका विश्वास था कि मानव-मात्र समान होते है। क्योंकि सबका निर्माण एक ही बिन्दु-मल-मूत्रादि से होता है। सबके शरीर में मांस चमड़ी आदि समान रूप से पाई जाती है। सबमें प्राण-प्रतिष्ठा करने वाली ज्योति भी एक ही है। उनका साम्यवाद इस सीमा तक पहुँच चुका था कि वे स्त्री-पुरुष के, नाम-रूप के सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण आदि के तात्विक भेद भी स्वीकार नहीं करते थे।

(क) *"ऐसा भेद विगूचंन भारी।*
वेद कतेब दीन अरु दुनियाँ, कौन पुरुष कोन नारी॥"

(ख) "एक बूँद एकै मल-मूतर एक चाम एक गूदा।
एक ज्योति थे सब उतपन्ना कौन बाह्मन कौन सूदा॥
माटी का पिण्ड सहजि उतपन्ना नादरु व्यन्द समाना।
विनसि गया थै का नाव धरिहौ पढ़ि गुनि भ्रम जाना॥
रजगुन ब्रह्मा तमगुन शंकर सतगुन हरिहौ सोई।
कहै कबीर एक राम जपहु रे हिन्दू तुरक न कोई॥"

इस प्रकार महात्मा कबीर ने बड़े तर्कयुक्त तर्कों के आधार पर व्यावहारिक साम्यवाद की प्रतिष्ठा की थी। उनमें आध्यात्मिक-साम्यवाद भी मिलता है, आध्यात्मिक साम्यवाद की प्रतिष्ठा उन्होंने अद्वैतवाद के सहारे की थी। अद्वैतवाद का मूल सिद्धान्त यही है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् सब-कुछ ब्रह्म रूप ही है। किन्तु माया के कारण इस सत्य की अनुभूति नहीं हो पाती। जब माया-जनित संशय नष्ट हो जाता है तभी सर्वत्र त्रिभुवननाथ के दर्शन होने लगते हैं—

"सोहं हंसा एक समान, काया के गुण आनहिं आन।
माटी एक सकल संसारा बहु विधि भाँडे घड़ै कुम्हारा॥
पचवरन दस दुहिए गाय, एक दूध देखो पतियाय।
कहै कबीर संसा करि दूर, त्रिभुवननाथ रहा भरिपूरि॥"

किन्तु इस प्रकार के वर्णन रहस्यवाद के नीरस उदाहरण-मात्र कहे जायेंगे। वास्तव में यह वर्णन दर्शन और उपदेश के अधिक समीप हैं, रहस्यवाद के कम।

मूल तत्त्व प्रेम—कबीर का प्रेम तत्त्व उनके रहस्यवाद का प्राणभूत उपादान है, यह बात हम कई बार दोहरा चुके हैं। किंतु कबीर के प्रेम का आदर्श अन्य प्रेमियों के आदर्श से भिन्न था। तुलसी ने अपने प्रेम का आदर्श चातक का प्रेम माना है। उन्होंने इनके सहारे अपने भक्ति-मूलक प्रेम की तीव्रता साधनात्मकता एवं एकनिष्ठता पर विशेष बल दिया है। सूफी साधकों ने भी अपनी साधना में प्रेम को सबसे अधिक महत्त्व दिया

था। उनके प्रेम का आदर्श लैला, मजनू और शीरी, फरहाद आदि प्रेम कहानियो में प्रतिष्ठित किया गया है। उन्होने प्रेम में वासना एव भाव-मूलक तीव्रता और एकनिष्ठता को ही विशेष महत्त्व दिया है। कबीर ने अपने प्रेम का आदर्श तुलसी आदि भक्त कवियो तथा सूफी साधको के प्रेमादर्श से सर्वथा भिन्न प्रदर्शित किया है। उनके प्रेम का आदर्श सती और सूरा है। उसकी अभिव्यक्ति प्रतीको, रूपको एव अन्योक्तियो से की गई है। वे प्रेम को केवल उपभोग की वस्तु नही मानते थे उनके प्रेम में जहाँ एक ओर मादकता है, तीव्र माधुर्य है, खुमारी है वही उसमें घोर त्याग एव तपस्या, कठिन साधना, पूर्ण आत्म समर्पण आदि की भी आवश्यकता रहती है। अपने प्रेम की इन विभिन्न विशेषताओ को एक साथ व्यजित करने के लिए उन्होने सती और सूर के प्रतीक सामने रक्खे है। वे प्रेम को खाला के घर के सदृश केवल सुखमय ही नही मानते थे। उनके मतानुसार सच्चा प्रेम, घोर तपस्या, पूर्ण त्याग, और आत्म-समर्पण की भूमि पर ही पनपता है। इसीलिए उन्होने लिखा है प्रेम के घर में वही प्रवेश कर सकता है जिसने अपना सिर काटकर अपने हाथ में ले लिया है अर्थात् स्वय घोरातिघोर साधना के लिए प्रस्तुत है—

"कबिरा ये घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे भुइं धरे, सो पैठे घर माहिं॥"

प्रेम के मार्ग में इन्द्रियो से युद्ध करना पडता है। इस युद्ध में वही सफल हो सकता है जो सच्चा वीर है या जिसमें सती नारी के समान पूर्ण पातिव्रत-जैसा युद्ध-व्रत पाया जाता है। वे कहते है कि इन्द्रियो से युद्ध करते हुए सच्चे प्रेमी को कभी पीछे नही हटना चाहिए—

"कबीर मर मैदान में करि इन्द्रियों सो जूझ।"

यह युद्ध बिना ज्ञान के विजय-विधायक नही हो सकता। ज्ञान के साथ-साथ सहज-सयोग की भी आवश्यकता होती है।

"सूरै सार सँभाहिया पहिर्‌या सहज संजोग।
अब के ज्ञानि गयंद चढ़ि खेत पड़न का जोग॥"

ऐसा साधक रूपी सूर अपनी साधना के लिए सब कुछ त्यागकर भी कभी हिम्मत नहीं हारता—

"सूरा तबहि परखिए लड़ै धणी के हेत।
पुरजा-पुरजा ह्वै पड़ै तबहुँ न छाड़ै खेत॥"

वह मृत्यु से भी नहीं डरता है। बल्कि सच तो यह है कि वह मृत्यु को आनन्दरूप मानने लगता है—

"जिस मरने ते जग डरै सो मेरे आनन्द।
कब मरिहुँ कब देखिहुँ पूरन परमानन्द॥"

जब साधकरूपी सूर अपना सिर काटकर अपने हाथ में ले लेता है तब उसे भगवान् के दर्शन होते हैं।

"सूरै सीस उतारिया छाड़ी तन की आस।
आगे थे हरि मुलकिया आवत देखा दास॥"

जब साधक का मन अपने प्रियतम में उसी प्रकार तन्मय हो जाता है जिस प्रकार सती का मन अपने प्रियतम में तन्मय रहता है तभी दोनों का भेद मिटने लगता है—

"सती जलन कूँ नीकली, चित्तधरी एकबमेख।
तन मन सौंपा पीव कूँ अन्तर रही न रेख॥"

इस प्रकार कबीर ने अपने प्रेम की एकनिष्ठता पवित्रता, तथा तपस्यानुकूलता का अच्छा संकेत किया है। उनका प्रेम वास्तव में बड़ा ही निर्मल और अनिर्वचनीय है।

अवस्थाएँ—रहस्यवाद का सूक्ष्म अध्ययन करने वाले आचार्यों ने प्रेम-साधना की अवस्थाओं के आधार पर रहस्यवादी साधना के विकास की कई अवस्थाएँ मानी हैं। इविलिन अंडरहिल के मतानुसार वे अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

१—जागरण की अवस्था [State of awakening]
२. परिष्करण की अवस्था [Purification]
३. प्रज्ञानुभूति की अवस्था [Illumination]
४ विघ्नो की अवस्था [Dark night]
५. मिलन की अवस्था [Unitive State]

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने एक छठी अवस्था 'पूर्ण एकाकार' की मानी है। मेरी समझ में इन अवस्थाओ से साधना के समस्त पक्ष स्पष्ट नही हो पाते है। रहस्यवाद की अवस्थाओ का निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) सत्यानुभूति के लिए तीव्र औत्सुक्य (२) गुरु की खोज, गुरु की प्राप्ति, गुरु का महत्त्व, गुरु-मन्त्र आदि (३) आध्यात्मिक जागरण की अवस्था (४) विवेक और वैराग्य की अवस्था (५) आत्म-परिष्करण की अवस्था (६) भावातिरेकता की अवस्था (७) आंशिक अनुभूति की अवस्था (८) विघ्न और उनके युद्ध की अवस्था (९) विरह की अवस्था (१०) आत्म-समर्पण की अवस्था (११) मिलन की पूर्वावस्था (१२) मिलन की अवस्था (१३) पूर्ण आत्म-समर्पण की अवस्था (१४) तादात्म्य की अवस्था।

जागरण की अवस्था—प्रथम दो अवस्थाओ का संकेत हम पहले ही कर चुके है। अब हम अन्य अवस्थाओ का विवेचन करेंगे। तीसरी अवस्था जागरण की है, जब गुरु गुरुमन्त्र दे देता है तो साधक सत्य की खोज की ओर उन्मुख हो उठता है। इस जागरण की अवस्था में साधक में विवेक का उदय होता है। यह विवेक उसमें सत और असत का भेद स्पष्ट करता है। महात्मा कबीर में इस अवस्था के स्पष्ट चित्र पाये जाते है। कबीर असत् ससार के पीछे जा रहे थे किन्तु गुरु ने कृपा की, वे सन्मार्ग की ओर उन्मुख हो उठे—

"पीछे लागा जाय था लोक वेद के साथ।
आगे ते सतगुरु मिला दीपक दीया हाथ॥"

दूसरे स्थल पर वे कहते हैं—

"ज्ञान प्रकासा गुरु मिल्या सो जनि वीसरि जाय।
जब गोविन्द कृपा करी तब मिलिया गुरु आय॥"

विवेक और वैराग्य—गुरु की कृपा से साधक का विवेक इतना जाग्रत हो जाता है कि वह केवल गोविन्द को ही सत् रूप समझने लगता है—

"चौंसठ दीवा जोईकर चौदह चन्दा माँहि।
तिह घर किसका चानिणौ जिहि घर गोविन्द नाहि॥"

इसी अवस्था में माया के मिथ्यात्व का भी ज्ञान हो जाता है—

"माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि इवै पड़न्त।
कहै कबीर गुरु ज्ञान थे एक आध उबरन्त॥"

इस अवस्था में किसी प्रकार का संशय, जो विनाश का मूल है, नहीं रह जाता—

"संसय खाया सकल जग संसा किनहू न खद्ध।
जे बेधे गुरु अष्षिरा तिनि संसा चुणि चुणि खद्ध॥"

किन्तु इस प्रकार का विवेक सबको नहीं होता। इसके लिए गुरु का सद् और शिष्य का सुपात्र होना आवश्यक है। यदि गुरु ही अंधा और अविवेकी है तो फिर क्या है गुरु-शिष्य दोनों ही कूप में पड़ेंगे—

"जाका गुरु भी आँधला चेला खरा निरंध।
अन्धा अन्धै ठेलिया दून्यों कूप पड़न्त॥"

और यदि शिष्य ही अनधिकारी और अयोग्य है तो फिर उसे विवेक कैसे हो सकता है—

"सतगुरु बपुरा क्या करे जो सिखही माँही चूक।"

अथवा

"सतगुरु मिल्या तो क्या भया जे मनि पाणी भोल ।
पासि विनटा कप्पडा क्या करै विचारी चोल ॥"

इस प्रकार स्पष्ट है कि जागरण जनित की अवस्था तभी उदय होगी जब शिष्य अधिकारी और पात्र होगा और उसे सद्गुरु मिल जायगा ।

जायसी ने जागरण की अवस्था के बाद वैराग्य की अवस्था का वर्णन किया है। उनके अनुसार जागरण के बाद यही अवस्था आती है । यह बात उनकी इस पक्ति से स्पष्ट ध्वनित है—

"जब भा चेता उठा वैरागा ।
बाउर जनौ सोइ उठि जागा ॥"

वैराग्य सभी प्रकार के आध्यात्मिक साधनो के लिए परम अपेक्षित होता है । फिर कबीर फक्कड थे ही, वे विवेकी होते ही घर फूँक तमाशा देखने को निकल पडे—

"हम घर जाल्या आपुंड़ा लिया मुराड़ा हाथि ।
अब घर जालौं तास का जे चले हमारे साथि ॥"

और भी देखिए—

"जग सो प्रीत न कीजए समभि मन मेरा ।
स्वाद हेत लपटाइए को निकसै सूरा ॥"[1]

लोक-संग्रह—इसी अवस्था में पहुँचकर रहस्यवादी वैरागी के साथ साथ उपदेशक बन जाते है एक ओर तो वे ससार की नश्वरता का सकेत करते हैं दूसरी ओर सदाचार का उपदेश देते है । जगत् की नश्वरता का प्रतिपादन देखिए—

"कबीर कहा गरवियो इस जोवन की आस ।
केसू फूले दिवस चारि खखर भये पलास ॥"

---

[1] 'कबीर ग्रन्थावली', पृष्ठ १५१

"कबीर कहा गरबियो देहीं देख सुरंग।
बीछड़ियाँ मिलिवों नहीं ज्यों काँचुली सुवंग॥"

सदाचार के उपदेश देखिए—

"काम क्रोध तृष्णा तजै ताहि मिलै भगवान्"

सम्भवत इन्ही उपदेशों के कारण रहस्यवादी को लोक-रक्षक की उपाधि दी जाती है।

Joyous Mysticism नामक ग्रन्थ में M. Spencer ने लिखा है—"Mystics are the highest saviours of the world" अर्थात् रहस्यवादी लोक के महान् रक्षक होते हैं।

आत्म-परिष्करण की अवस्था या सदाचरण—वैराग्य की अवस्था के बाद आत्म-परिष्करण की अवस्था आती है। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नही है। प्रत्येक साधक अपने-अपने ढंग पर आत्म-परिष्करण करता है। कबीर ने आत्म-परिष्करण के लिए किसी साधना-पद्धति विशेष के विधि-विधानो का निर्देश नही किया है। उन्होंने अधिकतर उन्ही नैतिक बातो पर जोर दिया है जिनसे समाज म किसी प्रकार के मिथ्याडम्बर फैलने की आशका नही रहती इनमे से उन्होंने कुछ का निर्देश विधि के रूप में किया है और कुछ निषेधो के रूप में। इन नैतिक विधि-निषेधो की अभिव्यक्ति अधिकतर उपदेशात्मक शैली में हुई है। सबने पहली बात, जिस पर कबीर ने विशेष बल दिया है, वह है निष्कपटता—सच्चे साधक का हृदय अवश्य ही निष्कपट होना चाहिए। यदि हृदय निष्कपट नहीं है तो सभी साधनाएँ व्यर्थ हैं—

"हृदय हेत हरि सू नहिं साँचो।
कहा भयो जो अनहद नाच्यो॥"

वे वेश-भूषा को कोई महत्त्व नही देते थे। यदि साधक का हृदय शुद्ध और निष्कपट है तो फिर चाहे वह जटा रख ले या मूड मुडा ले दोनो में कोई अन्तर नही पडता।

"सॉई सेति सॉच चल औरा सो सुध भाई ।
भावै लॉवे केस कर भावै घुटढ़ि मुड़ाई ॥"

हृदय की निष्कपटता के साथ-साथ सत्य, शील, भाव, भक्ति आदि का पालन भी आवश्यक होता है—

"सॉच शील का चौका दीजै ।
भाव भगति की सेवा कीजै ॥"

मन को साधना—इस प्रकार के आचरण करने के लिए सबसे आवश्यक बात है अपने मन को अपने अधीन रखना । मन की प्रवृत्ति बहिर्मुखी होती है, वह स्वभाव से ही वाह्य विषयो मे आसक्त रहता है । यदि वह वश में न रखा जाय तो बडा अनर्थ हो सकता है, इसलिए कबीर ने मन-साधना पर बहुत बल दिया है । वे मन को गोविन्द रूप मानते थे । इसीलिए उन्होने उसे अपने अधीन करने का उपदेश दिया है—

"मन गोरख मन गोविन्दो
मन ही औघड होय ।
जे मन राखे जतन कर
तो आपै करता सोय ॥"

जब इस मन को धीरे-धीरे साधना करते-करते बिलकुल मार दिया जाता है तभी ब्रह्म के दर्शन होते है—

"मैं मता मन मारि रे नन्हा करि-करि पीस ।
तब सुख पावै सुन्दरी ब्रह्म झल्लके सीस ॥"

प्रपत्ति मार्ग—मन-साधना का मार्ग वास्तव में कठिन है । साधारण साधक इतनी कठिन साधना नही कर सकता । अतएव कबीर ने प्रपत्ति का सरलतम मार्ग भी निर्देशित किया है । प्रपत्ति का अर्थ है शरणागति । भगवान् को पूर्ण आत्म-समर्पण कर देना ही प्रपत्ति है । इसके विविध अग भी होते है । इन सबका यहाँ वर्णन करना कठिन ही नही अनावश्यक भी है । कबीर ने प्रपत्ति का स्थान-स्थान पर उपदेश दिया है ।

"कहत कबीर सुनहुँ रे प्रानी
छाँडहु मन के भरमा।
केवल नाम जपहु रे
परहु एक की सरना॥"

आत्म-समर्पण का देखिए कितना विनम्र कथन है—

"कबीर कूता राम का मोतिया मेरा नाउ।
गले राम की जेवड़ी जित खींचौ तित जाउँ॥"

सत्संगति—आत्म-सुधार-विधायक साधनो में कबीर ने सत्संगति को भी बहुत अधिक महत्त्व दिया है। क्योंकि साधु-संगति कभी व्यर्थ नही जाती।

"कबीर संगति साध की कदे न निरफल होय।
चन्दन होसी बावना नीव न कहसी कोय॥"

साधु-संगति दुरमति को दूर करके सुमति प्रदान करती है—

"दुरमति दूरि गवाँइसी देती सुमति बताई।
कबीर संगति साधु की वेगि करी जै आई॥"

कबीर के नाम से प्रसिद्ध निम्नलिखित पद में रूपकात्मक प्रतीको के सहारे देखिए आत्म-परिष्करण में सत्संगति का कितना महत्त्व ध्वनित किया गया है—

"कौन रँगरेजवा रँगै मोर चुन्दरी।
पाँच तत्त की बनी चुन्दरियाँ चुन्दरी पहिरिके लगे बड़ी सुन्दरी।
टेकुआ तागा करम के धागा गरे बिच हरवा हाथ बिच मुँदरी॥
सोरहो सिंगार बतीसो अभरन पिय पिय रटत पिया संग धुनरी।
कहत कबीर सुनो भई साधो बिन सत्संग कवन विधि सुधरी॥"

रहस्यवाद के अन्तर्गत परिष्करण के साधनो का इसी शैली में वर्णन करने वाले पद आयेंगे। उपरिलिखित कुछ साखियाँ बात को स्पष्ट करने मात्र के लिए ही दी गई है। वे रहस्यवाद के सच्चे उदाहरण नही है।

ज्ञान—आत्म-परिष्करण के लिए सदाचार, मन-साधना और 'प्रपत्ति' मार्ग के अतिरिक्त ज्ञान की भी आवश्यकता होती है बिना ज्ञानरूपी आँधी में भ्रमरूपी टाटी उड ही नही सकती—

"संतो भाई आई ज्ञान की आँधी ।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी माया रहै न बाँधी ॥"

ज्ञान की लहरी ही अनहद नाद के श्रवण में सहायक होती है और तृष्णा नष्ट कर देती है—

"अवधू ग्यान लहर धुनि मॉडी रे ।
सबद अतीत अनाहद राता, रहि विधि शिष्णा षाडी ।"

जिसने ज्ञान का विचार नही किया तो समझ लेना चाहिए उसका जन्म व्यर्थ है—

"जो मैं ग्यान विचार न पाया ।
तो मैं यों ही जन्म गँवाया ॥"
"वह ससार हाट करि जानूँ, सबको वणिजण आया ।
चेति सकै तो चेतौ रे भाई, मूरिख मूल गँवाया ॥"

× × × ×

"जे जन जानि जपैं जग जीवन, तिनका ग्यान न नासा ।
कहै कबीर वै कबहूँ न हारैं, जानि न टारैं पासा ॥"

प्रेम-भगति—ज्ञान के अतिरिक्त 'प्रेम भगति' भी साधक के परिष्करण में बहुत अधिक सहायक होती है । कबीर ने प्रेम-भगति हिंडोलने का बडे सुन्दर ढग से वर्णन किया है—

"हिंडोलना तहाँ झूलै आतम राम ।
प्रेम भगति हिंडोलना सब सेतनि को विश्राम ॥"

इसलिए कबीर को प्रेम भगति करने का उपदेश देना पडा है—

"प्रेम भगति ऐसी कीजिए,
मुख अमृत बरसै चद ।"

भावातिरेकता अवस्था—आत्म-परिष्करण हो जाने पर साधक भाव-जगत् में पैठकर अपने प्रियतम को प्राप्त करना चाहता है। इसके लिए भावातिरेकता की अवस्था का उदय होना नितान्त आवश्यक होता है। सभी रहस्यवादी इसकी आवश्यकता का अनुभव करते हैं। Joyous Mysticism में स्पेन्सर लिखते है "Mysticism is a religion of the heart and when the heart is touched it is natural that their should be divine ecstacies Accompanied even by rapturous dancing and singing. अर्थात् रहस्यवाद हृदयमूलक धर्म है जब हृदय प्रभावित हो जाता है तब आनन्दमयी भावातिरेकता की स्थितियो का उदय होना स्वाभाविक होता है। उनमें भावात्मक नृत्य और सगीत भी प्रादुर्भूत हो जाते है। अब प्रश्न यह है कि वे कौन-सी बातें हैं जिनसे हृदय इतना अधिक प्रभावित हो जाता है कि भावातिरेकता की अवस्था जाग्रत हो जाती है इस सम्बध में आचार्यों में मतैक्य नही है।

रहस्यवादी कबीर भी भावातिरेकता का अवस्था में विश्वास करते थे। उन्होंने इस अवस्था का वर्णन कही पर उन्मनि और कही समाधि के नाम से किया है। कबीर ने समाधि या सहज समाधि की अवस्था का जन्म कई बातो से माना है। हम ऊपर रहस्यवाद की आन्तरिक प्रक्रिया की चर्चा करते समय उलटी चाल से समाधि की अवस्था का उदय होना बता चुके हैं अत यहाँ पर उसे दोहराना बेकार है। कबीर को समाधि की अवस्था तक ले जाने वाली दूसरी साधना भक्ति- मार्ग की है। जो सच्चा भक्त है वह भगवान् के गुणो का वर्णन करता हुआ आनन्द-निमग्न रहता है। इस आनन्द की अवस्था में, इस समाधि की स्थिति में कोई भी सांसारिक द्वन्द्व उसे व्याप्त नही होते है।

"राम भजै सो जानिए जाके आतुर नाहि
सत सन्तोष लीए रहै धीरज मन माहि
जन को काम क्रोध व्यापै नहीं तृष्णा जरावै
प्रफुल्लित आनन्द में गोविन्द गुण गावै
जन को पर निंदा भावै नहीं और असति न भाखै
काल कल्पना मेटि कर चरन चित राखै
जन सम दृष्टि शीतल सदा दुविधा नहिं आनै
कहै कबीर ता दास सू मेरा मन मानै।"

नाम-जप—भक्ति एव उलटी चाल के अतिरिक्त कबीर ने नाम-जप को भी विशेष महत्त्व दिया है। साधक राम का नाम स्मरण करते-करते राममय हो जाता है।

(i) *"तू तू करता तू भया मुझमें रही न हूँ।*
वारी फेरी बलि गई जित देखौ तित तू॥"

(ii) *"मेरा मन सुमिरै कू मेरा मन रामहिं आहिं।*
अब मन रामहिं ह्वै रहा सीस नवावो काहिं॥"

किन्तु यह स्मरण षट्मुखी-होना चाहिए। पाँच ज्ञानेन्द्रियो और मन इन छहो से स्मरण करना चाहिए तभी 'राम रतन' की प्राप्ति होगी—

"पच संगी पिउ-पिउ करैं छठा जो सुमिरै मन।
आई सूति कबीर की पाया राम रतन॥"

यह तभी भावातिरेकता को जन्म दे सकता है जब मनसा वाचा कर्मणा किया जाय—

"मनसा वाचा कर्मणा राम नाम सो होत।"

कीर्तन—नाम-जप के अतिरिक्त वे सम्भवत कीर्तन और सगीत में भी विश्वास करते थे। उनका कीर्तन-प्रेम उनकी पैगम्बर पीर की प्रशसा से टपकता है—

"हज्ज हमारी गोमती तीर,
जहाँ वसै पीताम्बर पीर।
वाह-वाहु क्या खूब गावता है,
हरि का नाम मेरे मन भावता है ॥"

उनका संगीत-प्रेम उनके संगीत-सम्बन्धी रूपकों से प्रकट होता है। यों तो कबीर ने भावातिरेकता को जन्म देने वाले उपर्युक्त साधनों का आश्रय लिया है किन्तु मेरी दृष्टि में यह सब साधन गौण हैं। उनकी भावात्मकता के विधायक योग और प्रेम-तत्त्व ही हैं प्रेम और योग के सहारे ही कबीर सहज समाधि की प्राप्ति करते हैं।

कबीर की भावातिरेकता और प्रेम—यहाँ पर योग-जनित भावातिरेकता का उल्लेख नहीं किया जायगा। इसका विस्तृत वर्णन साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत किया जायगा। देखिए कबीर प्रेम रस की भावातिरेकता के उदय में कितना सहायक मानते हैं। वास्तव में प्रेम रस बड़ा मधुर होता है उसे पीकर साधक आनन्द-निमग्न हो जाता है—

"राम रसायन प्रेम रस पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवरण दुर्लभ है माँगै सीस कलाल ॥"

इस 'हरि रस' या प्रेम को पीकर ही साधक समाधि का स्थिति को प्राप्त हो जाता है, कबीर ने इसे सहज समाधि कहा है। यही उनकी उन्मनावस्था भी है—

"जब थे इन मन उन मन जाना,
तब रूप न रेख तहाँ ले बाना।
तन मन मन तन एक समाना,
इन अनभै माहै मन माना।
आतम लीन अखण्डित रामा,
कहै कबीर हरि माहि समाना।"

इसी अवस्था में साधक महा रस का पान करता है—

आत्मा अनन्दी जोगी पीवे महा रस अमृत भोगी ॥
ब्रह्म अगिनि पर जारी अजपा जाप उन्मनी तारी ॥
त्रिकुट कोट में आसन माँडै सहज समाधि विषै सब छाँडै ॥

इसी उन्मनावस्था में जब उसे प्रियतम इत्यादि के रहस्य की अनुभूति होती है तभी वह चिल्ला उठता है—

"जानी-जानी रे राजा राम की कहानी ।"

विघ्न की अवस्था—किन्तु भावातिरेकता की यह अवस्था, कबीर की यह सहज समाधि स्थिर नही रह पाती है । माया उसमें बाधक हो जाती है—

"मुख कड़ियाली कुमति की कहन न देई राम ।"

माया—कबीर ने माया के बड़े ही रोचक और रहस्यमय वर्णन लिखे है । देखिए डायन के रूपक से उसका कितना रहस्यपूर्ण और मनोरजक चित्र चित्रित किया है—

"इकि डायनि मेरे मन में बसै रे ।
नित उठि मेरे जिय को डसै रे ॥
"या डायनि के लरिक पाँच रे निसदिन मोहि नचावैं नाँच रे ॥"

यह माया विविध प्रकार से मनुष्य को फँसाना चाहती है देखिए वह कैसी ट्रिक खेलती है—

"नेक निहारि हो माया विनती करै ।
दीन वचन बोलै कर जोरै, पुनि-पुनि पाँइ परै ॥
कनक लेहु जेता मनि भावै, कामिनि लेहु मन हरनी ।
पुत्र लेहु विद्या अधिकारी, राज लेहु सब धरनी ॥
अठि सिन्ध लेहु तुम्ह हरि के जना, नवें निधि है तुम्ह आगें ।
सुरनर सकल भवन के भूपति, तेऊ लहैं न माँगें ॥" इत्यादि

यह माया सच्चे संत से ही डरती है—

"एक सुहागनि जगत् पियारी, सकल जीव जंत की नारी।
खसम मरै वा नारि न रोवै, उस रखवाला औरै होवै॥
रखवाले का होई विनास, उतहि नरक इत भोग विलास॥
सुहागनि गलि सो हार, संतनि बिस बिलसै संसार॥
पीछै लागी फिरै पचि हारी, संत की ठठकी फिरै बिचारी॥
संत भजै वा पाछी पडै, गुर के सबदूं मारयो डरै॥
साषत कै यहु प्यंड पराइनि, हमारी द्रिष्टि परै जैसै डाइनि॥
अब हम इसका पाया भेद, होइ दयाल मिले गुरदेव॥
कहै कबीर इब बाहरि परी, ससारी कै अंचलि टरी॥"

माया के इस प्रकार के और भी अनेक सुन्दर चित्र कबीर में पाए जाते हैं।

विरह तत्त्व—जब माया प्रियतम की आत्मिक अनुभूति से विरत कर देती है तो साधक विरह से तड़प उठाता है। यह विरह तत्त्व रहस्य-वादी साधना में अपना बहुत बड़ा महत्त्व रखता है। विरह की अग्नि में ही साधक इस माया को भस्म करना चाहता है—

"लावो बाबा अगनि जलावो घरा रे
जा कारण मन धंधे परा रे।"

विरह पुकार-पुकार कर कहता है कि वह उसे परब्रह्म तक ले जायगा—

"विरहा कहै कबीर सौं तू जिन छाँडै मोहि
पारब्रह्म के तेज में तहाँ ले राखौं तोहि॥"

इसीलिए किसी को विरह की निन्दा नहीं करनी चाहिए। वह तो साधना का सुलतान है—

"विरहा बुरहा मत कहौ, विरहा है सुलतान
जिहि घट विरह न संचरे सो घट सदा मसान।"

वास्तव में प्रियतम-प्राप्ति का सबसे सरलतम मार्ग विरह का ही

है। विरह मानव का पूर्ण परिष्करण कर देता है तभी तो सूफी कवि उसमान ने लिखा है—

"विरह अगिनि जरि कुन्दन होई,
निर्मल तन पावै पै सोई।"

महात्मा कबीर भी इसी सिद्धान्त में विश्वास करते थे। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि साधक सासारिक सुखोपभोगो से नही, बल्कि रुदन-हाहाकार-प्रधान विरह से ही प्रियतम की प्राप्ति मे समर्थ होता है।

"हस हंस कंत न पाइए जिनि पाया तिनि रोय।"

सच्चे विरह की कसौटी यही है कि रोते रोते आंखो से लहू टपकनें लगे।

"जे लोचन लोहू चुवै तो जानें हेत हियाहि॥"

इसीलिए सच्चा साधक सासारिक सुखो का परित्याग करके आध्यात्मिक विरह में लीन रहना ही श्रेयस्कर समझता है।

"कबीर हॅसना दूरि करि रोवण सोकरि चित्त।
बिन रोया क्यों पाइए प्रेम पियारा मित्त॥"

विरह-साधना के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए महात्मा कबीर नें विरह दीपक का रम्य रूपक सामने रक्खा है। जब सच्चा साधक अपने शरीर रूपी दीप में जीव रूपी वत्ती तथा अश्रुजनित रक्त रूपी तेल डालकर उसे ज्योतित करता है, तभी उसे अपने प्रियतम के दर्शन होते हैं।

"इस तन का दीवा करूँ वाती में ल्यूँ जीव।
लोहू सींचू तेल ज्यों, तब मुख देखूँ पीव॥"

इस प्रकार विरह-साधना में लीन साधक या तो जीवित ही नही रहता और यदि किसी प्रकार जीवित भी रह जाय तो वह बावला हो जाता है—

"राम वियोगी ना जिये जियै तो बौरा होय।"

क्योंकि विरह सर्प के सदृश भयकर होता है उसकी विष रूपी पीडा को सहन करने की शक्ति केवल साधु में ही होती है।

"विरह भुअंगम पैसि कर किया कलेजे घाव।
साधु अंग न मोड़ही ज्यों भावै त्यों खाय॥"

विरह-साधना का साधक की दृष्टि में एक और महत्त्व है। वह अपने शरीर को विरहाग्नि में इसलिए जला देना चाहता है कि किसी प्रकार उसके जलने का धुआं ही प्रियतम तक पहुँच जाय। उस धुएँ को देखकर कदाचित् प्रियतम तरस खा ही जाय और प्रेमी का दर्शन दे ही दे, जिससे सारी ज्वाला शान्त हो जाय।

"यह तन जालू मसि करू ज्यों धूवॉ जाय सरग्गि।
मति वै राम दया करैं बरसि बुझावैं अग्गि॥"

विरह विरही के शरीर की समस्त धमनियो की तांत तथा शरीर को रबाब बनाकर हर समय बजाता रहता है। उस दैवी सगीत को साधारण मानव नही सुन सकता। उसे या तो साधक सुनता है या उसका साध्यरूप प्रियतम।

"सब रंग तंत रबाब तन विरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै कै साँई कै चित्त॥"

कबीर में विरह के कुछ अधिक भावात्मक चित्र भी मिलते हैं। ऐसे स्थलों पर उन्होंने दाम्पत्य प्रतीको का प्रयोग किया है। उन्होंने अधिकतर साधक को प्रियतमा या पत्नी और साध्य को प्रियतम अथवा पति रूप में ही कल्पित किया है।

इस प्रकार के दाम्पत्य-प्रतीको के सहारे अभिव्यक्त विरह चित्रो में एक विचित्र माधुर्य पाया जाता है। इनसे कबीर के रहस्यवाद का मूल्य बहुत बढ गया है। यहाँ पर इस कोटि के कुछ मधुरतम चित्रो का सकेत कर देना अनुपयुक्त न होगा।

अश्रुओ का विरह-वेदना में बहुत बडा महत्त्व है। फारसी काव्य-

शास्त्र में इसीलिए विरह की नौ अवस्थाओं में इसे भी स्थान दिया गया। हमारे यहाँ इसकी गणना सात्विकों के अन्तर्गत की गई है। हिन्दी के छायावादी कवियों ने इन्हें 'जीवन की अनुपम निधि' माना है। 'जीवन की यह अनुपम निधि' रहस्यवादियों का सब-कुछ है। महात्मा कबीर ने भी विरहिणी की साश्रु अवस्था के मार्मिक चित्र चित्रित किये हैं। एक चित्र है कि विरहिणी ने रो-रोकर अपनी आँखें लाल कर ली हैं यह लालिमा प्रियतम के प्रेम का प्रतीक है। किन्तु ससार वाले इस रहस्य को नहीं समझते। वे सोचते हैं कि कबीर की आँखें दुखने आई हैं। वास्तव में बड़ी विडम्बना है—

"आँखड़ियाँ प्रेम कसाइयाँ लोग जानैं दूखड़ियाँ।
साईं अपने कारणैं रोइ रोइ रातडियाँ॥"

इसी साश्रु अवस्था का वर्णन उन्होंने एक दूसरे स्थल पर एक दूसरे प्रकार से किया है। नेत्रों से हर समय जल-धारा प्रवाहमान रहती है। इस बात को कवि ने रहट के दृष्टान्त से बड़े प्रभावपूर्ण ढग से कह दिया है—

"नैना नीझर लाईया रहट बहै निसि जाम।
पपिहा ज्यों पिव-पिव करैं कबहु मिलैंगे राम॥"

इसी प्रकार विरह की अन्य अवस्थाओं के सरस वर्णन भी मिलते हैं। संस्कृत-काव्य-शास्त्र में वर्णित विरह की अवस्थाओं में सर्वप्रथम अभिलाषा आती है। कबीर में इस अवस्था के भावपूर्ण चित्र मिलते हैं। विरही की सबसे सात्विक अभिलाषा अपने प्रियतम के दर्शन की होती है। दर्शनों के लिए व्याकुल प्रियतमा कल्पना और भावना में ही अपने प्रियतम के दर्शन करती है। अपने दर्शन की पिपासा को इसी प्रकार शान्त करती है—

"नैना अन्तरि आचरु निसि दिन निरखौं तोहि।
कब हरि दर्शन देहुगे सो दिन आवै मोहि॥"

दर्शन की अभिलाषा के सदृश ही मिलन की अभिलाषा भी बडी ही मार्मिक होती है। विरहिणी मार्ग की ओर ही ध्यान लगाए रखती है जो पथिक आते हुए दिखाई पडते है उनसे प्रियतम का सदेश पूछती है—

"विरहिन ऊभी पंथ सिर पंथी बूझै धाय।
एक सबद कहि पीव का कबरु मिलेंगे आय॥"

इस साखी में अभिलाषा के साथ-साथ प्रतीक्षा और आशा की अवस्था की ध्वनि भी मिलती है। फारसी-काव्य-शास्त्र की दृष्टि से इसे हम 'इन्तजारी' और 'बेकरारी' की हालतो का मिला हुआ रूप कह सकते है।

विरहजनित टीस एव वेदना की भी अभिव्यक्ति कबीर में बडी ही भावात्मक शैली में हुई है। निम्न लिखित पद के एक-एक शब्द से असीम वेदना असह्य टीस और अतीव आकुलता टपक रही है—

"तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहि चैन रात नहि निंदिया, तलफ तलफ के भोर किया।
तन मन मोर रहट अस डोले सून सेज पर जनम छिया॥
नैन थकित भए पथ न सूझै साँई बेदरदी सुध न लिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो हरो पीर दुख जोर किया॥"

इसी प्रकार एक दूसरे पद में भी देखिए विरहजनित व्यथा की कथा कैसे मार्मिक ढग से कही गई है। विरहिणी प्रियतम से कहती है—'नाथ सब कोई मुझे तुम्हारी नारी कहता है किन्तु तुम मेरी रत्ती-भर भी चिन्ता नही करते हो। मै तुम्हारे विरह में क्षीण होती जाती हूँ। प्रियतम प्रियतमा का सम्बन्ध ही कैसा जब दोनो मिलकर एक नही हो जाते—

"बालम आओ हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे॥
सब कोई कहै तुम्हारी नारी।
मोको है सन्देह रे॥

एक मेक ह्वै सेज न सोवै।
तब लग कैसा नेह रे ॥" इत्यादि

कबीर का लक्ष्य अलौकिकता की आड़ में लौकिकता का वर्णन करना नही था यही कारण है कि इतने मधुर चित्र चित्रित करते हुए भी वे यह बात नही भूलते कि वे एक भक्त है। उनका लक्ष्य अपने भगवान् के दर्शन प्राप्त करना है—

"कब देखूँ मेरे राम सनेही।
जा बिन दुःख पावै मेरी देही॥ टेक ॥
हूँ तेरा पथ निहारूँ स्वामी।
कबर मिलिहुगे अन्तर्यामी॥
जैसे जल बिन मीन तलफै।
ऐसे हरि बिन मेरा जिया कलपै॥
निस दिन हरि बिन नींद न आवै।
दरस पियासी राम क्यों सचुपावै॥
कहै कबीर अब विलम्ब न कीजै।
अपनो जानि मोहि दर्शन दीजै।"

आत्मा किस प्रकार ससार में आकर सासारिक बन्धनो में बँध जाती है, उसे यह स्मरण ही नही रहता कि उसको अपने प्रियतम से मिलना भी है, इस बात को कबीर ने विवाह के रूपक से बडी ही गूढ भावात्मक शैली में इस प्रकार व्यक्त किया है—

"मैं सासने पीव, गौहनि आई।
साई संग साध नहि पूजी,
गयो जीवन सुपिना की नाई ॥टेक॥
पंच जना मिलि मडप छायो,
तीन जना मिलि लगन लिखाई॥

सखी सहेली मंगल गावैं।
सुख दु.ख माथे हलद चढ़ाई॥
नाना रंगे भावरी फेरी।
गाठ जोर बावै पति ताई॥
पूरि सुहाग भयो बिन दूलह।
चौक के रंग धरयो सगी माई॥
अपने पुरिख मुख कबहुँ न देख्यो।
सती होत समझी समझाई।
कहै कबीर हूँ सर रचि मरहूँ।
तिरो कंत ले तूर बजाई।"

इस प्रकार कबीर के रहस्यवाद में विरह की विविध अभि-व्यक्तियों पाई जाती है। उनके विरह-वर्णन के भावात्मक चित्रों से उनके रहस्यवाद का मूल्य बहुत बढ गया है।

आध्यात्मिक युद्ध—विरहोदय के साथ-ही-साथ युद्ध की अवस्था भी प्रारम्भ हो जाती है। माया और उसका समाज ही साधक की श्राधिक अनुभूति की अवस्था को शाश्वत अनुभति की स्थिति नही बनने देता। इसीलिए साधक इनको अपना कट्टर शत्रु समझने लगता है। इसके विरुद्ध युद्ध करना उनके जीवन का लक्ष्य हो जाता है। इस युद्ध में सूर साधक ही सफल होता है। ऐसा साधक जीवन-मरण को समान समझकर युद्ध क्षेत्र नही छोडता, चाहे फिर वह टुकडे-टुकडे होकर नष्ट ही क्यो न हो जाय—

(i) "सूरा तबहि समझिए लड़ै धनी के हेत।
पुरजा पुरजा ह्वै पडै तऊ न छाड़ै खेत॥"
(ii) "खेत न छाडै सूरिवाँ झूझै द्वै दल माहि।
आशा जीवन मरण की मन में आवै नाहि।"

इस अवस्था में साधक के हृदय में साध्य के प्रति किसी प्रकार के सशय शेष नही रह जाते है। हरि में उसकी पूर्ण निष्ठा हो जाती है। इस प्रकार निश्चिन्त होकर वह काम-क्रोधादि शत्रुओ से युद्ध करने मे सलग्न हो जाता है—

'कबीर मेरे संसा को नहीं हरि सूँ लागा हेत।
काम क्रोध सू झूझणा चौड़ै माड्या खेत ॥"

सच्चा साधक रूपी सूर व्यर्थ के प्रदर्शन में विश्वास नही करता प्रदर्शन की प्रवृत्ति तो कायर रूप झूठे साधक में होती है—

"कायर बहुत पमावहीं बहाक न बोलै सूर।
काम पड़ा ही जाड़िए किसके मुख पर नूर ॥"

ऐसे सूर साधक को मृत्यु भी प्यारी लगने लगती है। वह कहता है—

"जिस मरने थे जग डरै सो मेरे आनन्द।
कब मरिहों कब देखिहौं पूरन परमानन्द ॥"

इस प्रकार काम-क्रोधादि से युद्ध करते-करते वह उन पर विजय प्राप्त कर लेता है। इसीलिए माया और काम-क्रोधादि सत से डरते है—

"संत की ढिठाी फिरै विचारी"

आत्म-समर्पण की अवस्था—इस प्रकार साधक एक ओर विरह की दैवी अग्नि में अपनी आत्मा परिष्कृत करता है और दूसरी ओर इन्द्रियो से युद्ध करके उन पर विजय प्राप्त कर लेता है। अब वह आत्म-समर्पण प्रपत्ति और न्यास के मार्ग को अपनाता है। पूर्ण समर्पण के बिना प्रिय-तम से मिलन नही होता। सम्भवत इसीलिए हमारे धार्मिक साहित्य में प्रपत्ति को इतना अधिक महत्त्व दिया गया ह कि 'वाल्मीकि रामायण' में लिखा है—

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति याचते।
अभय सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥"

अर्थात् केवल एक बार 'मैं शरणागत हूँ' ऐसा कहने पर मैं जीव अभय कर देता हूँ। ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' में भी भगवान् ने इसी भाव को इस प्रकार प्रतिध्वनित किया है—

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुच.॥"

महात्मा कबीर शरणागति या प्रपत्ति के इस महत्त्व से पूर्णतया परिचित थे उन्होंने अपने प्रियतम के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण कर दिया था। उन्होंने दूसरो को भी यही उपदेश दिया है—

"कहत कबीर सुनहु रे प्रानी छोड़हु मन के भरमा।
केवल नाम जपहु रे प्रानी परहु एक की सरना॥"

आत्म-समर्पण के भाव की पराकाष्ठा उस समय दिखाई पड़ती है जब वे अपने को राम का गुलाम कहते है और अपना तन-मन-धन उन्हें सौंप देते हैं—

"मैं गुलाम मोहि बेचि गुंसाई।
तन मन धन मेरा राम जी के ताई॥"

अपनाव और प्रत्याशा—इस प्रकार आत्म-समर्पण कर देने पर प्रियतमा को प्रियतम अपना लेता है, भ्रमो और कर्मों के बन्धन कट जाते हैं। प्रियतम बाँह पकड़कर अपने समीप बुला लेता है—

"बालपने के करम हमारे काटे जान दई।
बाँह पकरि करि कृपा कीन्हीं आप समीप लई॥"

किन्तु यहीं पर मिलन नहीं हो जाता। कबीर भारतीय मर्यादा-वादी संत थे, अत बिना विवाह के मिलन दिखा भी कैसे सकते थे। अतः विवाह की तैयारी होने लगती है। प्रत्याशा की यह स्थिति वास्तव में बडी मधुर होती है, प्रेयसी अपने प्रियतम के लोक एव उसकी अटारियो आदि की विविधरंगी कल्पनाओ से विभोर हो उठती है। देखिए वह प्रियतम के लोक की मधुर कल्पना से पुलकित है—

"नहरवा हमका नहि भावै।
साँई की नगरी परम अति सुन्दर जहाँ कोई आवे न जावै॥"

साँई की नगरी के समान ही उसकी अटारियाँ भी बडी ही भव्य हैं। प्रियतमा की कल्पना उसे भी देखने के लिए व्याकुल रहती है—

"पिया रे ऊँची अटरिया जरद किनरिया लगी नाम की डोरिया।
चाँद सुरज सम दियना, बरतु है ता बिच भूली डगरिया॥"

'पिया की ऊँची अटरिया' की कल्पना करते-करते वह प्रेयसी कुछ अधिक रहस्यात्मक हो जाती है और भँवर गुफा की ओर सकेत करने लगती है। भँवर गुफा का जो सुषम्ना मार्ग है उसे उसने 'झीनी गैल' या 'सूक्ष्म मार्ग' कहा है। कल्पना में ही वह उस झीनी गैल से पिय की अटरिया तक डरते-डरते पहुँचने की चेष्टा करती है। बेचारी मुग्धा होने के कारण वह कुछ देर तो प्रियतम की प्रतीक्षा में सकोच और लज्जा के भार से लदी हुई खडी रहती है किन्तु क्षण-भर में वह आगे बढने का फिर प्रयत्न करती है—

"पिया की ऊँची अटरिया आस रहौ कब लौं खरी।
ऊँचे नहि चढ़ि जाय मने लज्जा भरी।
पाश नहि टहराय चहुँ गिर गिर परु॥
फिरि-फिरि चढ़हु सम्हारि चरन आगे धरुँ।
अंग-अंग ठहराय तो बहु बिधि डर रहूँ॥"

इसी प्रकार कल्पना करते-करते सो जाती है तो क्या देखती है कि प्रियतम पास आ गए है उन्होंनें उस सोती हुई को जगा दिया। इतने में ही निद्रा भग हो जाती है और वह बेचारी निराश हो जाती है—

"सुनि सखि सुपने की गति ऐसी हर आए हम पास।
सोवत हो जगाइया जागत भए उदास॥

मिलन-क्षणों की कल्पनाएँ—इसी अवस्था मे विरहिणी की मिलन-क्षणो की कल्पनाएँ भी आती है। वास्तव में मिलन से मिलन की कल्प-

नाएँ अधिक मधुर होती हैं। भावुक कबीर इस प्रकार कल्पनाएँ चित्र-रूप में चित्रित किये बिना नही रह सके—

थर थर कम्पै बाला जीव न जाने क्या करसी पीव।
रैनि गई मति दिन भी जाय भँवर गए बग बैठे आय॥ इत्यादि

साक्षात्कार की अवस्था—अन्त में साक्षात्कार और मिलन की स्थिति आती है। साक्षात्कार की अवस्था का वर्णन उपनिषदो में बड़े विस्तार से किया गया है। ये वर्णन दार्शनिक अधिक और साहित्यिक कम हैं। आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार होता है। हृदय की मोह-ग्रन्थियाँ विदीर्ण हो जाती है, सब सशय निर्मूल हो जाते है और कर्म-जाल नष्ट हो जाता है—

"भिद्यते हृदय ग्रन्थि छिद्यन्ते सर्व संशया.।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥"

उपनिषदो के सदृश कबीर ने भी साधक और साध्य के मिलन होने पर साधक के तापो का नष्ट होना माना है उनका विश्वास था कि साक्षात्कार होते ही साधक का जीवन आनन्दमय हो जाता है—

"हरि संगति शीतल भया मिटी मोह की ताप।
निसि वासर सुख निधि लहा अंतर प्रगटा आप॥"

किन्तु इस कोटि के वर्णन काव्यात्मक और भावात्मक न होने के कारण रहस्यवादी कम और दार्शनिक अधिक कहे जायेंगे।

विवाह और मिलन—कबीर में साक्षात्कार और मिलन की अवस्था के भावपूर्ण चित्र भी बहुत पाए जाते हैं। यह चित्र दाम्पत्य प्रतीको पर ही आधारित हैं। जैसा कि हम अभी कह चुके हैं कबीर ने दाम्पत्य-प्रतीको में भी पति-पत्नी के प्रतीको को ही अधिक अपनाने की चेष्टा की है। वास्तव में इस प्रकार का चुनाव भारतीय संस्कृति के अनुकूल भी था। भारत में सदा से प्रणय क्षेत्र में मर्यादा को विधेय माना गया है।

प्रियतमा और प्रियतम का सम्बन्ध मर्यादा के विरुद्ध माना जाता है। विवाह हो जाने पर यही सम्बन्ध पवित्र हो जाता है। कबीर भारतीय संस्कृति के संरक्षक संत थे। इसीलिए उन्होंने मिलन और साक्षात्कार के पूर्व विवाह की योजना दिखाई है। किन्तु यह विवाह साधारण मानवो के विवाह से भिन्न है। आत्मा और परमात्मा का मिलन साधारण हो भी कैसे सकता है। इसीलिए कबीर ने असाधारण विवाह का वर्णन किया है। देखिए निम्न लिखित रूपक में कबीर ने विवाह के समय का कैसा संश्लिष्ट चित्र खीचा है। आत्मा रूपी दुलहिन का अपने प्रियतम राम से परिणय होने वाला है। अत अन्य आत्मारूपी सखियाँ मिलनोत्सुक आत्मारूपी दुलहिन से आनन्दित होने के लिए कहती है। आज पति रूप में राम स्वयं ही दुलहिन रूपी आत्मा के घर परिणय हेतु आ पहुँचे है। वे अकेले नही आए है। साथ में लम्बी-चौडी बरात भी लाए है। तैंतीस करोड देवता अठासी सहस्र ऋषि ही बराती है। ब्रह्माजी संस्कार सम्पन्न कराने के लिए पुरोहित बनकर आए है। इससे अधिक दिव्य और असाधारण परिणय हो भी क्या सकता है—

"दुलहिन गावहु मंगलचार
हम घर आए हो राजा राम भरतार ॥ टेक ॥
तन रति करि मैं मन रत करहुँ पंच तत्त बराती।
रामदेव मोरे पहुन आये, मैं जोवन मदमाती ॥
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा बेद उचार।
रामदेव संगि भावरि लेहूँ धनि धनि भाग हमार ॥
सुर तैंतीस कौतिग आए मुनिवर सहस अठासी।
कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं पुरुष एक अविनासी ॥"

विवाह के पश्चात् सुहाग रात आती है। नायिका सोलह श्रृङ्गार करती है—

"किया सिंगार मिलन के ताई।"

'शृङ्गार' कर लेने पर भी प्रिय के पास सहसा जाने का साहस नहीं होता। लज्जा और सकोच उसे आगे नही बढने देते।

"पिया मिलन की आस रहौ कबलो खरी।
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय मने लज्जा भरी॥
पाँव नहिं ठहराय चहूँ गिरि गिरि परूँ।
फिरि फिरि चढहुँ सम्हारि चरन आगे धरूँ॥
अंग अंग ठहराय तो बहुविधि डरि रहूँ।
करम कपट मग घेरि तो भ्रम में परि रहूँ॥"

नायिका नवोढा और अज्ञाता है, अत वह बेचारी मिलन को कठिन जानकर डरती भी है—

"मिलना कठिन है कैसे मिलोंगी पिय जाय।
समुझि-सोच पग धरौं जतन से बार-बार डिग जाय॥
ऊँची गैल राह रपटीली पाव नहिं ठहराय।
लोक-लाज कुल की मरजादा देखत मन सकुचाय॥
नेहर बास बसा पीहर में लाज तजी नहिं जाय।
अधर भूमि जहाँ महल पिया का हम पर चढो न जाय॥"

सकोच करते-करते नायिका अपने प्रियतम तक पहुँच जाती है। प्रियतम तक पहुँचने पर प्रियतम से उसे साक्षात्कार नही हो पाता, उसका घूँघट दोनों के प्रत्यक्ष मिलन में बाधक है। अत सखियाँ उस घूँघट को उघाडने का उपदेश देती है—

'तोको पीव मिलेंगे घूँघट का पट खोल रे।'

अन्त में घूँघट का पट खुल ही जाता है और प्रियतमा प्रियतम से सुहाग प्राप्त करती है।

"बहुत दिनन थे प्रीतम पाए
भाग बडे घर बैठे आए॥ टेक॥

"मंगलचार माँहिं मन राखौ राम रसायन रसना चाखौ।
मन्दिर माँहि भया उजियारा ले सूती अपना पीव पियारा॥
मैं रनि रासी जे निधि पाई, हमहि कहा यह तुम्हहिं बड़ाई।
कहै कबीर मैं कछु नहि कीन्हा, सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा॥"

इस सुहाग के अवसर पर भी कबीर भारतीय संस्कृति की मर्यादा को नहीं भूले हैं।

नायिका सुहाग के अवसर पर अपने प्रियतम के चरणों को पकड़कर प्रेम को शाश्वत बनाने का आग्रह करती है—

"अब तोहि जानि न देहौं राम पियारे।।
ज्यूँ भावै त्यूँ होऊ हमारे॥ टेक॥
बहुत दिन के बिछुरे हरि पाए भाग बड़े घर बैठे आये॥
चरनन लागि करौ बरि आई प्रेम प्रीत राखौ, अरुझाई।
इत मन मन्दिर रहौ नित चोरै कहै कबीर परहु मत धोखै॥"

मिलन के मधुर रस का अनुभव कर लेने पर नायिका उस रस के बिना रह ही नहीं पाती। वह हर समय उसके सुहाग प्राप्त करने के लिए व्याकुल रहती है—

"ए सखियाँ अलबेली पिय को सेज चली।
रागा पहाड़ पतंग सम डोले बोले मधुरी बानी॥
फूलन सेज बिछाय जो राख्यो पिया बिना कुम्हलानी॥
धीरे पाँव धरो पलंगा पर जागत ननद जिठानी।

"सेजै रहूँ नैन नहीं देखौं,
यह दुःख कासौं कहूँ हो दयाल ॥"

इस प्रकार हम देखते है कि कबीर ने आध्यात्मिक मिलन की अभिव्यक्ति दाम्पत्य-प्रतीको के सहारे कितने सुन्दर ढग से की है। वास्तव में इन वर्णनो के कारण ही उनका अनुभूतिमूलक रहस्यवाद इतना मधुर मालूम पडता है।

तादात्म्य की अवस्था—यहाँ पर एक प्रश्न उठ खडा होता है। वह है कि क्या कभी इस मिलन मे पूर्ण तादात्म्य भी स्थापित होता है। इस सम्बन्ध में विद्वानो के दो मत हैं। कुछ विद्वानो के मतानुसार सूफी रहस्यवादियो को कभी पूर्ण तादात्म्य नही प्राप्त होता। स वर्ग के विद्वानो के मुखिया निकलसन साहब हैं। इन्होने अपने प्रसिद्ध ग्रथ India of Persnality in Surisane में इस मत का सतर्क प्रतिपादन किया है। इसके अतिरिक्त विद्वानो का दूसरा वर्ग पूर्ण तादात्म्य की स्थिति में विश्वास करता है। इसके प्रमाण में वे जलालुद्दीन रूमी की निम्नलिखित पक्तियाँ उद्धृत करते हैं। इन पक्तियो में तादात्म्य को नीर-क्षीर के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है—

With thy sweet soul this soul of mine,
Hath mixed as water doeth with wine,
Who can the wine and water part,
Or me and thee when we combine
Quoted from Joyus Mysticism
Page 182

अर्थात् तुम्हारी मधुर आत्मा से यह आत्मा इस प्रकार मिल गई है जैसे मदिरा से जल मिल जाता है। मदिरा और ज़ल को अथवा मुझको और तुमको कौन अलग कर सकता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सूफी रहस्यवादी भी पूर्ण तादात्म्य में विश्वास करते थे।

भारत में अद्वैतवाद का सदैव ही बोल-बाला रहा है अद्वैतवादी आत्मा और परमात्मा के पूर्ण तादात्म्य में विश्वास करते है। उनके इस विश्वास की अभिव्यक्ति भारत के भावुक रहस्यवादी संत कवियो में भी दिखाई देती है। संत ज्ञानेश्वर ने तादात्म्य की परिस्थिति का चित्र इस प्रकार खीचा है—

When he had entered the santuary his bodily consciousness was lost. His mind was changed to super mind All sense of boundness than over reason came to a stand still words were meta morphosed into no words and he saw his own self. His eye lashes ceased to twinkle distinction between night and day was gone. The whole Universe was a light and was filled with resonance of God was merged in an ocean of bliss and his beautification was effable. [1]

यह वर्णन अद्वैती होते हुए भी भक्त और भगवान् के सम्बन्ध को बनाए हुए हैं। भारतीय रहस्यवादी ऐसे ही तादात्म्य में विश्वास करते है। महात्मा कबीर ने भी तादात्म्य के जो वर्णन प्रस्तुत किये है वे बहुत कुछ इसी ढग के है। निम्नलिखित साखियो से उनका तादात्म्य का सिद्धान्त पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है साधक और साध्य में बूँद और समुद्र-जैसा सम्बन्ध है जिस प्रकार बूँद समुद्र में जाकर समुद्र रूप हो जाती है और फिर उसके अलग अस्तित्व को खोजना कठिन हो जाता है उसी प्रकार भक्त अपने व्यक्तित्व को भगवान् में इस प्रकार मिला देता

हेरत हेरत हे सखी रहा कबीर हिराय।
बुंद समानी समुद्र में सोकत हेरी जाय॥

1 'Mysticism in Maharastra Preface' Page 12

है कि फिर दोनो में कोई भेद नही रह जाता है। इसी बात को ध्यान में रखकर अडरहिल ने लिखा है कि रहस्यवाद वास्तव में व्यक्तित्व का लोप करता है—

"Mysticism indeed implies the abolition of individuality."[1]

महात्मा कबीर में तादात्म्य के भावात्मक वर्णन भी पाए जाते हैं। जब प्रियतम और प्रियतमा मिल जाते हैं तब फिर कोई भेद नही रह जाता, यदि प्रियतम मरेंगे तो फिर प्रियतमा भी मरेगी अन्यथा वह भी उसी के समान अमर रहेगी—

"हरि मरिहे तो हमहुँ मरिहैं।
हरि न मरैं तो हम काहे को मरिहैं॥"

हरि तो अमर और शाश्वत रूप है, फिर भला प्रियतमा ही क्यो मरेगी। इसीलिए वह कहती है—

"हम न मरैं मरिहै संसारा।
मिला हमहिं को जियावन हारा॥"

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर पूर्ण तादात्म्य में विश्वास करते थे। उनका यह तादात्म्य तात्विक दृष्टि से पूर्ण अद्वैती था किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उनमें भगवान् और भक्त के सम्बन्ध बने रहने की ध्वनि निकलती है। वे कहते हैं कि राम और कबीर भक्त और भगवान् जब एक हो जाते हैं तब उन्हें कोई पहचान नही पाता। उनका भेद दूसरो को स्पष्ट नहीं हो पाता। उनमें जो भेद रहता है उसे केवल भगवान् और भक्त ही जानते हैं—

"राम कबीरा एक भए हैं कोउ न सकै पछाड़ि।"

सत्य की अखण्ड अनुभूति—यहाँ पर एक प्रश्न और विचारणीय है, वह यह कि क्या कबीर को सत्य के सौन्दर्य की सम्पूर्णता में अनुभूति

---

१. Mysticism underhill. Page 85

हुई थी या वे उसके किसी एक पक्ष का दर्शन करके रह गए थे।

कबीर की रहस्यानुभूति का मनोयोग से अध्ययन करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने सम्पूर्ण सत्य की सम्पूर्ण भावात्मक झाँकी देखी थी। उन्होंने स्वय भी स्वीकार किया है कि उनका 'परचा' पूरे से हुआ था—

"पूरे सू परच्या भया सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्हीं आत्मा ताथे सदा हजूरि॥"

सत्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य को देखकर ऐसा स्वाभाविक है कि मौनता आ जाय। कबीर ने उसके दर्शन सम्पूर्णता में किये थे, किन्तु उसकी वर्णना में वे सर्वथा असमर्थ थे—

"दीठा है तो कस कहूँ कह्या न कोउ पतियाय।
हरि जैसा है तैसा रहौ तू हरिखि हरषिं गुन गाइ॥"

वास्तव में वह पूर्ण अद्भुत अनिर्वचनीय ही है। वेद और कुरान भी उसकी अनुभूति का रहस्य नही बता सकते, अत यदि कबीर उसका कुछ वर्णन भी करें तो किसी को विश्वास ही नही होगा—

"ऐसा अद्भुत जिनि कथै, अद्भुत राखि लुकाय।
वेद कुरानों गमि नहीं कह्या न को पतियाइ॥"

यदि उसका किसी प्रकार वर्णन करने का प्रयत्न भी किया जाय तो उसके तेज का कथन-मात्र किया जा सकता है। वह सैकडो सूर्यों की ज्योति से भी विलक्षण होता है—

"कबिरा तेज अनन्त का मानों ऊगी सूरजसेणि।
पति सँग जागी सुन्दरी कौतिक दीठातेणि॥"

साधक को जब रहस्य की अनुभूति अपनी सम्पूर्णता में होती है तब फिर वह उसका वर्णन किसी एक ही ऐन्द्रिक अनुभूति के माध्यम से नही करता। वह अपनी रहस्यानुभूति की सम्पूर्णता व्यक्त करने के लिए लिए सभी प्रकार की ऐन्द्रिक अनुभूनियो का आश्रय लेता है। कभी तो

वह विचित्रातिविचित्र स्वर-लहरियों को सुनता है, कभी वह विचित्रातिविचित्र दृश्य देखता है; कभी वह मिलन और स्पर्श के मनोरम चित्र सामने लाता है। इसी प्रकार वह अपूर्व सुगन्धियों का वर्णन करता है। इस प्रकार वह सभी ऐंद्रिक विषयों के माध्यम से उस रहस्यरूप प्रियतम का वर्णन करता है। कबीर ने अपनी रहस्यानुभूति को सम्पूर्णता में व्यक्त करने की कामना से विविध ऐन्द्रिक अनुभूतियों के सहारे उसका वर्णन किया है। महात्मा कबीर अद्वैतवाद में विश्वास करते थे। अतः उन्होंने अविनश्वर रहस्यमय को विविध प्रकार की विचित्र ध्वनियों के सहारे अभिव्यक्त किया है। उन्हें उसकी अनुभूति कभी-कभी गगन के गर्जन के रूप में होती थी।

"गगन गरजि अमृत चवै कदली कंवल प्रकास।
तहाँ कबीर बंदगी कै कोई निजदास॥"

योग से प्रभावित होने के कारण वे अनहद नाद के रूप में भी उसकी अनुभूति करते थे—

"कबीर कमल प्रकासिया उपजा निर्मल सूर।
निसि अंधियारी मिटि गई बागे अनहद नूर॥"

यहाँ पर शब्द और रूप दोनों ऐंद्रिक विषयों का मिश्रण करके उससे रहस्यमय की अभिव्यक्ति की गई है। उसी प्रकार वे 'ज्ञान लहरी धुनि' सुनते हैं—

"अवधू ज्ञान लहरि धुनि, माडी रे।
सबद अतीत अनाहद राता इहि विधि तृष्णा खाँडी रे॥"

कबीर ने अपने प्रियतम की अनुभूति सुगन्धरूप में भी की थी। कस्तूरी की सुगन्ध सबसे अधिक तीव्र होती है अतः उन्होंने उसका ही वर्णन किया है—

"पिंजर प्रेम प्रकासिया अंतरि भया-उजास।
मुख कस्तूरी महमही बाणी फूटी बास॥"

स्पर्शेन्द्रिय से सम्बन्धित उक्तियो की भी कमी कबीर में नही है। मिलन के चित्रो में स्पर्शमूलक अनुभूतियो का विचित्र आकर्षण भरा है। भेंटने का यह एक छोटा-सा चित्र देखिए—

"अंक भरे भर भेंटिया मन में नाहीं धीर।
कहै कबीर ते क्यूँ मिले जबलग नोइ सरीर॥"

इसी प्रकार 'ले सूती अपना पीव पियारा' में भी स्पर्शजनित रहस्यानुभूति का ही कथन है। कबीर ने अपने प्रियतम की अनुभूति रस रूप में भी की थी। उनके राम-रसायन की चर्चा हम पीछे बडे विस्तार से कर चुके है। अब गगन-मण्डल के अमृत और बक नालि के रस को भी पीकर देखिए—

"(i) *अवधू गगनमण्डल घर कीजै।*
(ii) *अमृत झरै सदा सुख उपजै बंक नाली रस पीजै॥*
(iii) *अवधू मेरा मन मतिवारा।*
उन्मनि चढ्या गगन रस पीजै त्रिभुवन भया उजियारा॥"

कबीर की रूप-सम्बन्धी अनुभूतियाँ भी बडी ही मधुर है। उन्होंने मानव रूप में प्रियतम की अनुभूति कम की थी। वे अधिकतर उसके दर्शन ज्योतिरूप में करते थे या लालिमा रूप में इनके उदाहरण दूसरे प्रसगो में दिये जा चुके है। यहाँ मै इतना ही कहना चाहता हूँ कि महात्मा कबीर ने अपने प्रियतम की अनुभूति सम्पूर्णता में की थी। इसीलिए उन्होंने सभी ऐन्द्रिक विषयो के माध्यम से उसकी अनुभूतियाँ व्यक्त की है।

: ३ :

यौगिक रहस्यवाद

आत्म दर्शन में योग—बृहदारण्यकोपनिषद् के मैत्रेयी ब्राह्मण में आत्म साक्षात्कार के साधनों का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"

अर्थात् आत्मा का ही दर्शन श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। इस उद्धरण में श्रवण और मनन के सदृश निदिध्यासन को भी आत्म-साक्षात्कार का साधन माना गया है। निदिध्यासन ध्यान का पर्यायवाची कहा जा सकता है। यह भव्य योग-भवन का सप्तम सोपान है। इससे स्पष्ट है कि आत्म-साक्षात्कार के साधनों में योग का बहुत बड़ा महत्त्व है। इसका उल्लेख 'ऋग्वेद संहिता' तक में किया गया है। उसमें एक स्थल पर उसका वर्णन इस प्रकार मिलता है—

"स घानो योग आभुवत् स रायेस
पुरं ध्याम् गमद् वाजेभिरास नः।"

अर्थात् परमात्मा हमारी समाधि के निमित्त अभिमुख हो, वह विवेक ख्याति रूपी धन तथा अतीतानागतादि अनन्त वस्तु-विषयक होने से बहुविधि बुद्धि ऋतम्भरा के उत्पादन निमित्त अनुकूल हो। इस प्रकार स्पष्ट है कि अध्यात्म क्षेत्र में योग की मान्यता सदा से रही है। योग का लक्ष्य भी वही होता है जो रहस्यवाद भक्ति आदि अन्य साधनों का। 'योग वाशिष्ठ' में लिखा है कि आत्मा और परमात्मा को मिलाने वाला साधन योग कहलाता है। योग के चार प्रमुख भेद माने गए हैं—

योग के विविध भेद—(१) हठयोग, (२) राजयोग, (३) लययोग, (४) मन्त्रयोग। इन सबसे प्राचीन अध्यात्मयोग है। 'कठोपनिषद्' में इसका सब प्रकार वर्णन किया गया है—

"तं दुर्दर्शं गूढमनु प्रविष्टं।
गुहाहितं गह्वरेष्ठ पुराणम् ॥
अध्यात्म योगाधिगमेन देवं।
मत्वा धीरो हर्ष शोको जहाति ॥"

अर्थात् वह आत्मा जो इतना तेजस्वी है कि देखा नही जा सकता, गहन स्थान में प्रवेश किये हुए है, गुहा में बैठा हुआ और गह्वर में रहने वाला उसे अध्यात्म योग के द्वारा जानना चाहिए। यदि रहस्यवाद की अन्तर्मुखी प्रक्रिया से इसकी तुलना करे तो तुरन्त स्पष्ट हो जायगा कि वास्तव में अध्यात्मयोग एक प्रकार का अन्तर्मुखी रहस्यवाद है। रहस्यवाद का लक्ष्य भी इसी प्रकार सगुण और निर्गुण रूप देव के साथ एकाकार प्राप्त करना होता है। उपर्युक्त चारो प्रकार के योग वास्तव में उस *'गुहाहितं गह्वरेष्ठ देवं'* तक पहुँचने के चार प्रकार के शरीर, मन, बुद्धि और प्राणमूलक साधन है। हठयोग विशेष रूप से शरीर-साधना है। लययोग का सम्बन्ध विशेष रूप से मन से है। मन्त्रयोग में बुद्धि की क्रिया प्रधान रहती है राजयोग वास्तव में प्राण साधना का समन्वित रूप है। योगी इनकी साधना व्यष्टि रूप से भी करते है और समष्टि रूप से भी। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में इन सब समष्टिमूलक साधनाओ पर विशेष जोर दिया गया है। उसमें इस प्रकार लिखा है—

"त्रिरुन्नत स्थाप्य समं शरीरं।
हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निरुध्य ॥
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्।
स्त्रोतांसि सर्वाणि भया वहानि ॥

और गोरखनाथ ने इस योग-शास्त्र का फिर से पुनरुद्धार किया और इसकी प्रतिष्ठा अपने ढ़ग पर की। इसीलिए हठयोग दो प्रकार का माना जाता है—

"द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादि सुसाधकै।
अन्योमृकण्ड पुत्राद्यः साधि तो हठ संज्ञक॥"

अर्थात् हठयोग दो प्रकार का होता है, एक तो गोरक्ष आदि साधको के द्वारा प्रवर्तित किया हुआ और दूसरा वह जिसको मृकण्ड आदि के पुत्रो ने प्रतिष्ठित किया था। महात्मा कबीर गोरक्षक आदि साधको के हठयोग से प्रभावित हुए थे, क्योकि इनकी परम्परा से इनका पूर सम्बन्ध था। इस नवीन मत्स्येन्द्रनाथी हठयोग का विवेचन गोरक्ष हता, गोरक्ष सिद्धान्त सग्रह, सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, सिद्ध सिद्धान्त सग्रह, घेरण्ड सहिता हठयोग दीपिका आदि ग्रन्थो में विस्तार से किया गया है। इनके अतिरिक्त इसका वर्णन तत्र ग्रथो और बौद्ध धर्म के ग्रथो में भी हुआ। तान्त्रिको और बौद्धो में पहुँचकर इसने बहुत अधिक विकास किया। विकसित होते-होते यह इतना जटिल हो गया कि स्वय रहस्यमय बन गया। महर्षि मार्कण्डेय अष्टाग योग को ही हठयोग मानते थे। किन्तु गोरक्षोपदिष्ट हठयोग के केवल ६ अग माने गए है।- यम और नियम हठयोग के अन्तर्गत नही लिये गए है। हठयोग का सबसे प्रमुख विषय है नाडी-जय, इसका विकसित रूप कुण्डलिनी शक्ति योग-तत्र ग्रथो में इसका बडे विस्तार से विचार किया गया है। कबीर नाथो, सिद्धों और तान्त्रिको से एक समान प्रभावित थे। अत इनमें नाडी जय और कुण्डलनीशक्तियोग आदि की सूक्ष्मातिसूक्ष्म बात मिलती है। इनको इन्होने कल्पना, आलकारिकता और चित्रात्मकता के सहारे रहस्यमय बना दिया है। कुण्डलिनी शक्ति-योग में सबसे रहस्यपूर्ण वर्णन चक्रो के है। हठयोगी प्राय ६ चक्र ही मानते हैं, किन्तु तत्र ग्रन्थो में ११ चक्रो तर्क की कल्पना की गई है। महात्मा कबीर ने इन चक्रो का

बड़े ही रहस्यात्मक ढंग से बार-बार उल्लेख किया है। अतः अत्यन्त संक्षेप में हम यहाँ इन चक्रों और उनकी रहस्यात्मकता का परिचय देना आवश्यक समझते हैं। चक्रों के रहस्य को समझने के लिए नाड़ियों की भी चर्चा कर देना आवश्यक है, क्योंकि शरीर की प्रमुख नाड़ियाँ ही इन चक्रों को बाँधे हुए हैं, इन चक्रों से सम्बन्धित सबसे प्रमुख नाड़ियाँ इड़ा, पिंगला और सुषम्ना हैं। इड़ा और पिंगला सुषम्ना नाड़ी को लपेटे रहती हैं, इड़ा बाईं ओर होती है उसका वर्ण शुभ्र होता है। पिंगला सुषम्ना के दाहिनी ओर होती है। यह रक्त वर्ण की होती है। इड़ा को अमृतविग्रहा और पिंगला को रौद्रात्मिका मानते हैं। सुषम्ना के मध्य भाग में वज्रा नाड़ी मानी है वज्रा के मध्य में चित्रा नाड़ी अन्तर्निहित रहती है। इन चित्रा के मध्य में ब्रह्म नाड़ी होती है। सुषम्ना नाड़ी अग्नि स्वरूपा मानी जाती है। वज्रा सूर्य रूपा कही गई है। चित्रा पूर्ण चन्द्र-मण्डल रूपा होती है। चित्रा नाड़ी ब्रह्म द्वार कहलाती है। क्योंकि कुण्डलिनी शक्ति इसीमें से होकर ऊर्ध्वगामिनी होती है। सुषम्ना में कुण्डलिनी तब प्रवेश करती है जब इड़ा और पिंगला समगति से चलती हैं। योगी का लक्ष्य कुण्डलिनी शक्ति को सुषम्ना के बीच से चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार कमल तक ले जाना होता है। जब कुण्डलिनी सहस्रार में पहुँच जाती है तब साधक को समाधि की स्थिति प्राप्त हो जाती है। इस समाधि की अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात् योगी अमर हो जाता है। अब थोड़ा-सा चक्रों पर प्रकाश डाल देना चाहते हैं।

पहला चक्र मूलाधार के नाम से प्रसिद्ध है। यह पृथ्वी-तत्त्व का दर्शक माना जाता है। इसमें चार दल होते हैं। ब्रह्मदेव इसके देवता हैं। उपर्युक्त चार दल प्राण-शक्ति के सहारे उत्पन्न होते हैं। इन्हीं में कुण्डलिनी प्रसृत रहती है। इन दलों पर जो अक्षर हैं वे कुण्डलिनी को आकृति प्रदान करते हैं। कुण्डलिनी इसी चक्र के नीचे त्रिकोणात्मक रूप में स्वयं लिंग से साढ़े तीन वलयों में आवर्तित सुप्तावस्था में पड़ी रहती

है। कुण्डली द्वारा निर्मित इस त्रिकोण को त्रिपुर कहते हैं। जो योगी इस मूलाधार चक्र की साधना में सफल होता है उसे वाक् सिद्धि प्राप्त होती है। शिव संहिता में स्पष्ट लिखा है—

"य. करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः।
तस्य स्याद्दुर्दुरी सिद्धिर्भूमी त्याग क्रमेणावे॥"

दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है। इस चक्र का रंग रक्तवर्ण माना जाता है। इसमें ६ दल माने गए हैं। व भ म य र ल उनके संकेत अक्षर हैं। इस चक्र की स्वामिनी शाकिनी देवी मानी गई है। इसके देवता विष्णु हैं। तीसरा चक्र मणिपुर के नाम से प्रसिद्ध है। इसका रंग सुनहला होता है इसमें दस दल होते हैं। उन दलों के संकेताक्षर ड ढ ण त थ द ध न प फ मानें गए है। इसके देवता रुद्र हैं। इसकी अधिष्ठात्री देवी का नाम लाँकिनी है। इस चक्र की साधना सफल होने पर पाताल नामक सिद्धि मिलती है वह सर्वगतिमय हो जाता है इसके बाद हृत्पद्म या अनाहत चक्र आता है। यह हृदय स्थल में स्थित रहता है। इसमें बारह दल होते हैं। इसका वर्ण रक्त होता है। विश्वसार तन्त्र के अनुसार इस स्थान में उत्पन्न होने वाली अनाहत ध्वनि ही शिव रूप है। यही जीवात्मा का वास-स्थान माना गया है। इसकी साधना में सफलता प्राप्त करने पर साधक को खेचरी शक्ति मिलती है। इसके बाद कंठ पद्म या विशुद्धि चक्र है इसमें सोलह दल होते हैं। इसके देवता अर्ध-नारी नरेश्वर है। इस चक्र का कुछ अंश शुभ्र होता है और कुछ स्वर्णाभ रंग का छठा चक्र आज्ञा चक्र है। इसमें दो दल होते हैं इसका रंग श्वेत है इसके दोनों ओर इड़ा और पिंगला हैं। वही मानो वरुणा और असी है। इसीलिए योगियों में यह स्थान वाराणसी के नाम से प्रसिद्ध है इसके देवता विश्वनाथ माने गए हैं। कहते हैं आज्ञाचक्र के त्रिकोण में अग्नि सूर्य और चन्द्र तत्त्व रहते हैं। अव्यक्त प्रणवरूपी आत्मा का भी यही स्थान माना जाता है। इन सब के बाद

सहस्रार चक्र आता है इसमें एक हजार दल माने गए हैं। कहते हैं इसमें २० विवर होते हैं। इनमें पचास-पचास मातृकाएँ मानी जाती हैं। इस प्रकार सहस्र दल हो जाते हैं। इस सहस्रार कमल का स्थान तालुमूल माना जाता है। इस तालुमूल में सुषुम्ना नाडी ने अधोमुखी होकर गमन किया है। यह कमल शुभ्रवर्ण तथा कुछ अरुण रक्तवर्ण माना जाता है। इसे लोग अधोमुखी भी बतलाते हैं। इस सहस्रार कमल के कन्द देश में एक पश्चिमोन्मुख त्रिकोण-सा है। इस त्रिकोण में ब्रह्म-विवर सहित सुषुम्ना मूल है। इस स्थान से मूलाधार पर्यन्त जो विवर है वही ब्रह्मरन्ध्र है। इसमें ६ छोटे छिद्र होते हैं। इस रन्ध्र का रूप बिन्दु ० के सदृश है। इसी ब्रह्मरन्ध्र को दशम द्वार भी कहते हैं। इस ब्रह्म-रन्ध्र की साधना करने वाला ब्रह्मरूप हो जाता है।

इन षट्चक्रो के अतिरिक्त तन्त्र ग्रंथो में कई और चक्रो की भी चर्चा की गई है। आज्ञा चक्र के समीप एक मन चक्र की कल्पना की गई है। उसमें ६ दल हैं। मन चक्र के ऊपर एक सोम चक्र बताया जाता है उसके १६ दल बताए जाते हैं। आज्ञा चक्र के समीप ही कारण शरीर से सम्बन्धित सात कोष हैं। इनके नाम क्रमश इन्दु, बोधिनी, नाद, अर्धचन्द्रिका, महानाद, कला और उन्मनी है। कहते हैं इस उन्मनी कोष में पहुँचने पर पुनरावृत्ति नही होती है। शक्ति-सम्मोहन तन्त्र में ९ चक्रो का उल्लेख किया गया है। किन्तु वे इनसे सर्वथा भिन्न हैं। उनके नाम क्रमश सर्वानन्दमय सर्वसिद्धि चक्र, सर्वरोगहर चक्र, सर्वरक्षाकार चक्र, सर्वार्थ साधक चक्र, सार्वभौम भाग्यदायक चक्र, सर्व सक्षोभणी चक्र, सर्वाशा परिपूर्ण चक्र और त्रैलोक्य मोहन तन्त्र है। महानिर्वाण तन्त्र में चक्र तो नौ ही माने हैं, किन्तु उनके आकार और नाम इनसे सर्वथा भिन्न हैं। कुछ लोगो ने नौ चक्रो के अन्तर्गत ऊपर कथित षट्चक्रो के अतिरिक्त श्री हाटगोल्लाट और त्रिकूट चक्र और माने हैं। हठयोग के अन्तर्गत विविध प्रकार के चक्रो के बड़े जटिल वर्णन आते हैं।

महात्मा कबीर पर हठयोग की चक्रभेदन प्रक्रिया अथवा कुण्डलिनी-उत्पादन प्रक्रिया का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा था। उन्होने चक्रो के बड़े ही रहस्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किये है। इनकी रचनाओ में इनके वर्णन भरे पडे है। देखिए निम्नलिखित अवतरण में उन्होने 'ऐसे मन के मोहन बीठुला' का वर्णन किया है, जो षट्दल कमल निवासी है—

"मन के मोहन बीठुला यह मन लागो तोहिं रे।
चरन कवल मन मानिया और न भावै मोहि रे॥
षटदल कमल निवासिया चहुँ कों फेरि मिलाइरे"

इसके आगे वे अष्टदल कँवल निवासी श्री रग जी का वर्णन करते है—

"दहु के बीच समाधियाँ, तहाँ काल न पासै आइ रे।
अष्ट कंवल दल भीतरा, तह श्रीरग केलि कराय रे॥"

इन पक्तियो के आगे ब्रह्मरन्ध्र का सूक्ष्म वर्णन किया गया है—

"बकि नालि के अतरे पछिम दिसा की बाट रे।
नीझर झरै रस पीजिए तह भवर गुफा के घाट रे॥"

ऊपर अभी हम जिस पश्चिमाभिमुख योनि-मण्डल का उल्लेख कर चुके है इन पक्तियो में उन्हीका रहस्यात्मक चित्रण किया गया है। इस ब्रह्म-रन्ध्र में योगी को जिन रहस्यात्मक दृश्यो और स्वर-लहरियो का आभास मिलता है नीचे लिखी पक्तियो में उनका रोचक चित्र खींचा गया है—

"गगन गरज मघ जोइए तँह दीसै तार अनन्त रे।
बिजुरी चमकि घन बरषि है वह भजित है सब सन्त रे॥"

महात्मा कबीर ने ब्रह्मरन्ध्र में अनुभूत होने वाली विचित्र-विचित्र स्वर-लहरियो तथा लोकातीत दृश्यो का सैकडो प्रकार से वर्णन किया है। यहाँ पर उनमे से कुछ का निर्देश कर देना आवश्यक है। उनके 'परचा' के अग मे इस प्रकार के वर्णनो की भरमार है। कभी तो वे

'कमल जो फूले जलहां बन' *'देखा चन्द विहूणा चादणा'* जैसे विभावनात्मक दृश्य देखते है और कभी प्रियतम के महल में विश्राम करते है—

"मुनि जन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम।"

इस ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर केवल नेत्रेन्द्रिय ही तृप्त नही होती वरन् सुन्न में स्नान करके उनके शरीर को भी सतोष मिलता है—

(1) *"हद-छाडि बेहद गया किया सुन्न असनान।*

(11) *जेहि सर घडा न डूबता मैगल मलि-मलि न्हाय।"*

यहाँ आकर साधक की रस-सम्बन्धी पिपासा भी शान्त हो जाती है क्योकि यहाँ अमृत झरता रहता है—

(1) *"गरजि गगन अमृत चुवै*

(11) *अमृत बरिसै हीरा निपजै।"*

साधक यहाँ अनहद नाद तथा अन्यान्य मधुर स्वर-लहरियाँ भी सुनता है—

(1) *'अनहद बाजे नीझर झरैं।'*

इस प्रकार ब्रह्म-रन्ध्र के रहस्यो को कबीर ने विविध प्रकार की ऐन्द्रिक अनुभूतियो के सहारे उद्घाटित किया है। सहस्रार चक्र का वर्णन भी कबीर ने रूपकात्मक शैली में किया है। हम ऊपर बता चुके है कि सहस्रार अधोमुखी होता है। कबीर ने उसका वर्णन देखिए कितने रहस्यात्मक ग से किया है—

"आकासे मुखि औंधा कुँवा पाताले पनिहार।
ताका पाणी को हँसा पीवै बिरला आदि विचार॥"

हमने अभी जिस सुषुम्ना मार्ग की चर्चा नाडियो के प्रसग में ऊपर की है कबीर ने उसके भी रहस्यात्मक वर्णन लिखे है। 'सूषिम मारग' के अग में उन्होने इसीका रूपकात्मक शैली में वर्णन किया है। वे लिखते है—

(i) "जन कबीर का सिखर घर बाट सलैली सैल ।
पॉय न टिकैं पिपीलिका लौंगन लादै बैंल ॥"

(ii) "जहॉ न चीटी चढ़ि सकै और न राई ठहराय ।
मन पवन का गम नहि तहँ कबीर पहुँचे जाय ॥"

(iii) "कबीर मारग अगम है सब मुनि जन बैठे थाकि ।
तहॉ कबीरा चल गया गहि सद्गुरु को साखि ॥"

सुषुम्ना का वर्णन कबीर ने चक्रो के प्रसग में भी किया है। देखिए नीचे द्वादस कमल की ओर सकेत करते हुए वे सुषुम्ना का उल्लेख भी करते है—

"द्वादस कूंवा एक वन माली उलटा नीर चलावै ।
सहजि सुषुम्ना कूल भरावै दह दिसि वाडी पावै ॥"

इसमें सिंचाई की प्रक्रिया का अच्छा रूपक बाँधा गया है। इन पक्तियो में इस रूपक के कारण ही रहस्यवाद की व्यञ्जना हो गई है। यहाँ पर हम एक बार फिर दोहरा देना चाहते है कि वे ही यौगिक वर्णन साधनात्मक रहस्यवाद के अतर्गत आयेंगे जिनकी अभिव्यक्ति मे काव्यात्मकता के कारण कोई वैचित्र्य और चमत्कार दिखाई पडता है। चन्द और सूर को जोडकर देखिए वे कितनी सुन्दर सुषुम्ना तत्री तैयार कर लेते है—

"चंद सूर दोई तूंबा करिहौं चित चेतनि की डॉडी ।
सुषुम्ना तती बाजण लागी इहि विधि त्रिष्णा पाडी ॥"

कबीर ने सुषुम्ना की स्त्री रूप में भी कल्पना की है। ऐसे स्थलो पर मानवीकरण अलकार माना जा सकता है। जब साधक नाभि कमल में पहुँचकर अपने प्रियतम भगवान् को खोज लेता है तभी सोलहो कलाओ से चन्द्र प्रकाशित हो उठता है। अनहद नाद की मधुर स्वर-लहरी बज उठती है और सुषुम्ना के घर आनन्द मनाया जाने लगता है—

"जब लग नाभि कॅवल नहीं सोधै ।
तो हीरा हीरै कैसे बेधै ॥"

सोलह कला सम्पूरण छाजा ।
अनहद के घरि बाजै बाजा ॥
सुषमन के घर भया अनन्दा ।
उलटि कँवल भेंटे गोविन्दा ॥"

यहाँ इस प्रसग में हम कबीर के अत्यत रहस्यमय 'प्रेम भगति हिंडोलने' को नही भुला सकते । चद और सूर उस हिंडोलने के दो खम्भे हैं । 'बकनालि' उसकी डोरी है । वह हिंडोलना 'द्वादस गम के अन्तरा' पड़ा हुआ है । वहाँ अमृतत्व की मोक्षदायिनी स्रोतस्वनी प्रवहमान रहती है । 'सहज सुनि' इसके समीप है इसके ऊपर गगन-मण्डल है—

"प्रेम भगति हिंडोलना सब संतनि को बिश्राम ॥
चन्द सूर दुई खम्भवा बंक नालि की डोरि ॥
झूले पञ्च पियारिया तहँ झूलै जीय मोर ।
द्वादस गम के अन्तरा तहँ अमृत का वास ॥
जिनि यह अमृत चाखियाँ सो ठाकुर हम दास ।
सहज सुनि को नेहरो गगन मंडलि सिरमोर ॥"

इसमें चन्द्र तो सहस्रार में स्थित अमृत स्थान के लिए प्रयुक्त हुआ । सूर मूलाधार में स्थित अमृत भक्षक कुण्डलिनी के त्रिकोण का प्रतीक है । बक नालि उन दोनों को जोड़ने वाली सुषुम्ना नाड़ी है । 'द्वादश दलकँवल अनाहत'—का वाचक है । गगन-मण्डल का प्रयोग अधोमुखी सहस्रार के लिए किया गया है । 'सहज सुनि' ब्रह्मरन्ध्र का द्योतक माना जा सकता है । इस प्रकार कबीर ने शुष्क यौगिक बातो को रूपकात्मक और प्रतीकात्मक शैली द्वारा वर्णित करके उन्हें अत्यन्त रहस्यपूर्ण बना दिया है ।

हमने ऊपर आज्ञाचक्र के समीपस्थ उन्मनी कोष की चर्चा की है । कबीर ने उसका अनेक बार विविध प्रकार से प्रयोग किया है । इस उन्मनी कोष म पहुँचकर साधक की समाधि लग जाती है और वह

अजर अमर हो जाता है। कबीर ने इस उन्मनी कोष को अपने घट के भीतर खोज लिया था। यही पर यह अपना ध्यान केन्द्रित करते थे। यह बात निम्नलिखित पंक्तियो से प्रकट है। 'उन्मनीध्यान घट भीतर पाया' इस उन्मनी अवस्था में साधक अमृत-पान करता रहता है—

"अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढ्या गगन रस पीवै, त्रिभुवन भया उजियारा ॥ टेक ॥"

चक्रो, सुषुम्ना और उन्मनि कोष आदि के रहस्यात्मक वर्णनों के साथ-साथ योगी कबीर ने इला, पिंगला और त्रिकुटि आदि के रहस्यात्मक वर्णन भी किये हैं। इला पिंगला की भाटी बनाकर उसमें वे ब्रह्माग्नि प्रज्वलित करके अमृत की धार चुवाते हैं—

"इला पिंगला भाटी कीन्ही ब्रह्म अगिनि पर जारी।
उलटी गंग नीर बहि आया अमृत धार चुवाई ॥"

इसी प्रकार त्रिकुटी के भी रहस्यमय वर्णन मिलते हैं—

(i) *"गगन ज्योति तह त्रिकुटी सन्धि,*
रवि ससि पवना मेलौ बंधि।"

(ii) *"जब लगि त्रिकुटी सन्धि न जानै,*
ससि हर के घर सूर न आनै।
जब लगि नाभि कॅवल नहि सोधै,
तो हरि हीरा कैसे बेधै।"

त्रिकुटी पर त्रिवेणी की कल्पना भी बहुत लोक-प्रसिद्ध है। कबीर ने इस कल्पना की भी कई स्थानो पर अभिव्यक्ति की है—

(i) *"त्रिवेणी करे मन मंजन।*
जन कबीर प्रभू अलख निरञ्जन ॥"

(ii) *"त्रिवेणी म्ह न्हवाइए सुरति मिलै जो हाथिरे।"*

कबीर ने कुण्डलिनी के भी भावपूर्ण एं रहस्यपूर्ण वर्णन लिखे है। कही पर उन्होंने उसे नागिन कहा है और कही पर सर्पिणी, इस प्रकार

के अभिधान उन्होंने हठयोग-प्रदीपिका के अनुकरण पर दिये हैं। उसमें लिखा है—

"कुटिलांगी कुण्डलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी।
कुण्डल्यरुन्धती चेते शब्दा पर्यायवाचकाः।"

कबीर ने इस सर्पिणी की महिमा को देखिए कितने भावात्मक ढग से वर्णन किया है। कुछ लोग इसे माया का रहस्यात्मक वर्णन भी मानते हैं—

"सर्पनी ते ऊपर नहिं बलिया,
जिन ब्रह्मा विष्णु महादेव छलिया
मारु मारु सर्पनी निर्मल जल पईठी,
जिनि त्रिभुवन खे गुरु प्रसाद दीठी
सर्पनी, सर्पनी क्या कहहु भाई,
जिन साचु पछान्या तिनि सर्पनी खाई
सर्पनी ते आन छूछ नहिं अवरा,
सर्पनी जीती कहा करे जमरा।"

किन्तु एक दूसरे स्थल पर इन्होंने इसका संकेत नागिन के अभिधान से किया है—

"सोवत नागिन जागी"

इससे यह भी स्पष्ट है कि वे सुप्ता नागिनी चालित करने में भी विश्वास करते थे।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने गूढ और जटिल हठयौगिक बातें काव्यात्मक और भावात्मक शैली में रहस्यात्मक ढंग से अभिव्यक्त की हैं। संक्षेप में उनकी हठयोग साधना से सम्बन्धित रहस्यवाद का स्वरूप यही है। अब हम उनके लय यौगिक साधना से सम्बन्धित रहस्याभिव्यक्ति पर प्रकाश डालेंगे।

लय योग और कबीर—आत्मा का परमात्मा में लय कर देना ही

१. देखिए लेखक की 'कबीर की विचारधारा' योग वर्णन।

लय योग है। इसकी सैकडो विधियाँ हैं। 'योग तत्त्वोपनिषद्' में लय योग पर विचार करते हुए स्पष्ट लिखा गया है—

"लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तित ।
गच्छंस्तिष्ठन स्वपन भुञ्जन ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम् ॥"

अर्थात् चित्त का परमात्मा में लय कर देना ही लय योग है। यह लय योग करोडो प्रकार का हो सकता है। साधक को चलते हुए, सोते हुए, खाते हुए सभी अवस्थाओ में ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। वास्तव में करोडो प्रकार के लय योग का वर्णन करना असम्भव है। यहाँ पर हम अत्यन्त सक्षेप में उन लय योगो का ही सकेत करेंगे, जिनसे कबीर के रहस्यवाद का कुछ सम्बन्ध है। वे इस प्रकार निर्देशित किये जा सकते है। (१) मन लय योग (२) नाद लय योग (३) शब्द सुरति योग (४) सहज लय योग।

मन लय योग में साधक को अपने मन का लय उन्मन या महामन में करना होता है। 'हठयोग प्रदीपिका' में इस मन लय योग का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"कर्पूरमनले यद्वत्सैन्धवं सलिले तथा ।
तथा सन्धीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥"

मन यदि तत्त्व में केन्द्रित किया जाता है तो वह उसमें उसी प्रकार लीन हो जाता है जिस प्रकार अग्नि में कपूर और जल में लवण।

"ज्ञेयं सर्वं प्रतीतिश्च ज्ञानं च मन उच्यते ।
ज्ञानज्ञेये सम नष्टं नान्यः पथा द्वितीयकः ॥"

अर्थात् जिन वस्तुओ को जाना जाता है वे ज्ञेय कहलाती है। तथा जानने वाली शक्ति को ज्ञान कहते है। जब ज्ञान और ज्ञेय का भेद नष्ट हो जाता है तब दोनो में कोई भेद नहीं रह जाता है। दूसरे स्थल पर इसी बात को और अधिक स्पष्ट किया गया है—

"भ्रुवोर्मध्ये शिवं स्थानं मनः तत्र विलीयते ।
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥"

अर्थात् भ्रूमध्य में शिव-स्थान है। मन का लय उसी स्थान पर करना चाहिए। उसी तुरीयावस्था की अनुभूति करनी चाहिए। उसके अनुभव करने वाले को काल नही मार सकता। हठयोग प्रदीपिकाकार ने मन की साधना-विधि पर भी प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं—

"निरालम्बं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।
स बाह्याभ्यन्तरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ॥"

अर्थात् मन निरालम्बन करके किसी भी प्रकार का चिन्तन या ध्यान न करे। तब वह बाहर और भीतर दोनों स्थानो पर आकाश में न पात्र के सदृश हो जाता है—

"बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्यो न संशयः ।
स्व स्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सहः ॥"

जब बाह्य वायु लीन होने लगती है आन्तरिक वायु स्वयं ही लीन हो जाती है। इसके पश्चात् मन के साथ प्राण या वायु भी ब्रह्म रन्ध्र में शान्त हो जाता है—

"एवमभ्यासमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ।
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥"

इस प्रकार जब-जब सुषुम्ना में दिन-रात प्राण-साधना का अभ्यास करते-करते प्राण जीर्ण कर दिया जाता है तो फिर प्राण के साथ मन भी स्थिर हो जाता है। मन लययोग-साधना के इस वर्णन के प्रकाश में यदि हम कबीर का अध्ययन करें तो उनमें मनलय योग सम्बन्धी रहस्य-वाद भी मिल जायगा। मन लय से सम्बन्धित शुष्क वर्णन तो उनमें मिलते ही हैं; कही सुन्दर रहस्यात्मक वर्णन भी दिखाई पड जाते हैं। देखिए निम्नलिखित पंक्तियो में हमें उनके मन लय योग का ही रूपकात्मक ढग का वर्णन मिलता है—

"मन पवन जब परचा भया।
ज्यू नलि राखी रस माइयां ॥
कहे कबीर घट लेहु विचारी।
औघट घाट सींच ले क्यारी ॥"

इसी प्रकार जब मन 'उन्मन्न' से लग जाता है तब गगन-स्थित हो जाता है। गगन स्थित होने पर ही 'चद विहूणा' चांदना दिखाई पडता है और 'अलख निरजन' राम के दर्शन होते है—

"मन लागा उन्मन्न सो गगन पहुँचा जाय।
देखा चँद विहूणा चादणा अलख निरंजन राई ॥"

अब हम नाद लय योग पर विचार कर लेना चाहते है। कबीर मे नाद लय योग से सम्बन्धित रहस्यवाद भी मिलता है। नाद लय योग को 'हठयोग प्रदीपिका' के लेखक ने मुख्यतम योग माना है। वह लिखता है—

"श्री आदि नाथेन सपाद कोटि,
लय प्रकारा. कथिता जयन्ति।
नादानुसंधानकमेकमेक,
मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥ ४। ६६"

अर्थात् श्री आदिनाथ ने सपाद कोटि लययोग का उपदेश दिया था। किन्तु उन सबमें मै नादलय योग को मुख्यतम मानता हूँ। इस नादयोग की प्रक्रिया का सकेत 'हठयोग प्रदीपिका' में इस प्रकार किया गया है—

"मुक्तासने स्थितो योगी मुद्राय संधायशाभवीम् ।
श्रृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तः स्थमेकधी ॥ ४। ६७
श्रवन पुट नयन युगल घ्राण मुखाना तिरोधन कार्यम् ।
शुद्ध सुषुम्णा सरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ॥४। ६८"

\+ \+ \+ \+

"अभ्यस्य मानो नादोऽयं वाह्यमावृणुते ध्वनीम् ।
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥ ४। ८२

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादोनानाविधो महान् ।
ततो अभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्म सूक्ष्मक ॥ ४ । ८४,
आदौ जलधि जीमूत भेरी झर्झर सम्भवः ।
मध्ये मर्दल शङ्खोत्था घण्टा काहलजास्तथा ॥४॥ ८५
अन्ते तु किंकिणी वंश वीणा भ्रमर निःस्वनाः ।
इति नानाविधाः नादा श्रूयन्ते देहमध्यगा ॥ ४ । ८६
यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मन ।
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ॥ ४ । ८९"

अर्थात् योगी को चाहिए कि वह शाम्भवी मुद्रा धारण करके एकाग्र चित्त होकर दाहिने कर्ण से अन्तस्थ नादों का श्रवण करे। फिर कान, आँख, नाक तथा मुख बंद करके सुषुम्ना में नादानुसंधान करे। नाद-श्रवण का इस प्रकार अभ्यास कर लेने पर साधक बाह्यनादों से क्रमंश उदासीन होता जाता है। योगी अपने मन की अस्थिरता पर विजय प्राप्त करके १५ दिन में ही आनन्द में लीन होने लगता है। नाद पहले अपने स्थल रूप में सुनाई पड़ता है। वह प्राय समुद्र अथवा मेघ के गर्जन, भेरी तथा झर्झर ध्वनि के सदृश होता है। साधना के मध्य में जा ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं वे मृदाल घण्टा तथा शख की ध्वनियो से मिलती-जुलती हैं। अन्त में सुनाई पड़ने वाली ध्वनियाँ, किंकणी, बाँसुरी, वीणा तथा भ्रमर के निस्वन जैसी होती हैं। मन इस नाद में कही भी केन्द्रित होकर उसमें लीन हो जाता है।

महात्मा कबीर ने नादलय योग से सम्बन्धित रहस्याभिव्यक्ति भी पाई जाती है। नादानुसन्धान के मार्ग में विविध प्रकार की जो ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं उनके रोचक वर्णन कबीर ने भी अपने ढग पर किये हैं। गगन के गर्जन की ध्वनि का वर्णन बहुत बार किया है। 'हठयोग प्रदीपिका' के अनुसार नाद श्रवण की प्राथमिक अवस्था है—कबीर लिखते हैं—

(१) *'गगन गरज मघ जोइए'*

(11) *'गगन गरजि मन सुन्न समाना'*

इसी प्रकार अन्य ध्वनियो का भी सकेत किया है—

"विनही ताला ताल वजावै विन मदल पट ताला।
विनही सवद अनाहद वाजै तहाँ निरतत है गोपाला॥"[1]

अनहद नाद का उन्होने अनेक स्थलो पर वर्णन किया है। अनहद नाद श्रवण नादलय की पराकाष्ठा है। इसी बात को कवीर ने देखिए कैसे काव्यात्मक ढग से रक्खा है—

"ससिहर सूर मिलावा, तव अनहद वेन वजावा।
जव अनहद वाजा वाजै, तव साईं सेज विराजै॥"[2]

इसी प्रकार उनके नादलय योग के वहुत-से उदाहरण उनकी वानिओ में ढूँढे जा सकते है। विस्तार-भय से हम अधिक उदाहरण नही दे रहे है।

नादलय योग का एक अपना रूप हमें स्वय कवीर में मिलता है। वह है उनका शब्द-सुरति योग। इस शब्द-सुरति योग का वर्णन योग-शास्त्र के ग्रन्थो में नही मिलता। इसके वीज सिद्धो में ढूँढे जा सकते है। किन्तु इसके प्रस्थापक और प्रवर्तक महात्मा कवीरदासजी है। इस शब्द के सुरति-योग के रहस्यात्मक वर्णन कवीर में वहुत कम मिलते है। इनमें हमें नाद-विंदु की चर्चा भी जगह-जगह पर मिलती है। किन्तु नाद विन्दुलय योग का साङ्ग साधना का विकास उनमें कही भी नही दिखाई पडता। साग साधना के विकास वर्णन के अभाव में रहस्यात्मक वर्णनो का प्रश्न ही नही उठता। इसके अतिरिक्त कवीर में लय योग और अन्य कई प्रकार के रहस्यात्मक वर्णन मिलते है। उनमें एक को हम सहज लय योग कह सकते है। उसका एक रहस्यात्मक वर्णन उदाहरण के रूप में इस प्रकार दिया जा सकता है—

---

१. 'कवीर ग्रथावली', पृष्ठ ४०।

२. वही, पृष्ठ—१४६।

"गंग जमुन के अन्तरे सहज सुन्न ल्यौं घाट।
तहाँ कबीरे मठ रच्या मुनि जन जोवैं बाट॥"

राजयोग और कबीर—लययोग के बाद राजयोग आता है। यद्यपि राजयोग को सरल स्पष्ट और रहस्यहीन कहा जा सकता है किन्तु कबीर की रहस्यात्मक प्रवृत्ति ने राजयोग मूलक रहस्याभिव्यक्ति को भी जन्म दे दिया है। अत यहां पर थोडा-सा राजयोग का भी परिचय दे देना आवश्यक है। हठ्योग और लययोग को हम राजयोग की प्रथम भूमिकाएँ मान सकते हैं। हठ्योगप्रदीपिकाकार ने हठ्योग का अध्ययन एवं उसकी साधना राजयोग के लिए ही मानी है। उसने ग्रंथ के प्रारम्भ में ही लिख दिया है—

'केवल राजयोगाय हठ विधोपदिश्यते' अर्थात् केवल राजयोग के हेतु ही हठ्योग का उपदेश दिया जा रहा है। वह लययोग की पराकाष्ठा राजयोग में ही मानता है—

'एकी भूते तदाचित्त राजयोगाभिधानकम्' अर्थात् लययोग से जब चित्त तत्त्व में पूर्ण केन्द्रित हो जाता है तब उसे राजयोग कहते हैं। यह राजयोग योगशास्त्र में विविध नामो से प्रसिद्ध हैं। 'हठ्योग प्रदीपिका' में यह नाम इस प्रकार बताए गए हैं—

"राजयोग समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी
अमरत्वं लयस्तत्त्व शून्याशून्यं परम पदम्।
अमनस्क तथाऽद्वैत निरालम्ब निरंजन
जीवन मुक्तिश्च सहजा तुर्याचेत्येक वाचकाः॥"

अर्थात् राजयोग समाधि उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लयतत्व, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरवलम्ब, निरञ्जन, जीवनमुक्ति, सहजा, तुर्या आदि सब पर्यायवाची पद हैं। राजयोग वास्तव में हठ्योग के पश्चात् की साधना हठ्योग में शारीरिक साधना पर बल दिया जाता है किन्तु राजयोग का सम्बन्ध मन से माना जाता है। इसीलिए आचार्यों

का कहना है, 'अष्टाग योग' के प्रथम चार अग हठयोग के अन्तर्गत आते और उसके अन्तिम चार अग राजयोग का स्वरूप निर्माण करते है। इस प्रकार प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को हम राजयोग के चारो चरण मान सकते हैं। बहुत-से योगी केवल समाधि को ही राजयोग मानते हैं। राजयोग के चारो अगो का सक्षिप्त विवेचन कर देना आवश्यक है। वे चार अग क्रमश प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि है। प्रत्याहार का वर्णन करते हुए 'योग दर्शन' में लिखा है—

'स्वविषयासं प्रयोगे चित्त स्वरुपा नुकार इवेन्द्रियाणा प्रत्याहारः'

अर्थात् अपने विषयो के सग से रहित होने पर इन्द्रियो का चित्त से एकाकार प्राप्त करना ही प्रत्याहार है। इन्द्रियो का स्वामी मन है, यदि मन का निरोध हो जाय तो इन्द्रियो का निरोध रूप प्रत्याहार अपने-आप प्राप्त हो जाता है। महात्मा कबीर ने प्रत्याहार के भी कुछ रहस्यात्मक वर्णन किये है—

(i) *"मन न मार्‌यॉ मन करि सके न पच प्रहारि।*
सील सॉच सरधा नहीं इन्द्री अजहुँ उघारि॥"

(ii) *"मैंमता मन माहिरे नन्हा करिकरी पीस।*
तव सुख पावै सुन्दरी ब्रह्म झल्लकै सीस॥"

(iii) *"कागद केरी नावरी पाणी केरी गंग।*
कहै कबीर कैसे तिरु पंच कुसगी गंग॥"

(iv) *"काटी कूटी मछली छींके धरी चहोड़ि।*
कोई एक अखिर मन बसा दह में पड़ी बहोरि॥"

(v) *"काया कसू कमाण ज्यू पच तत्तकरि बाण।*
मारौ तो मन मृग को नहीं तो मिथ्या जाण॥"

राजयोग का दूसरा अग धारणा है। धारणा को हम ध्यान और समाधि के लिए अनिवार्य मानते है। 'योग दर्शन' में धारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'देशबन्धुश्चित्तस्य धारणा'[1]

अर्थात् चित्त को किसी एक देश विशेष में स्थिर करने का नाम धारणा है। महात्मा कबीर में धारणा नामक अवस्था से सम्बन्धित कुछ रहस्यात्मक वर्णन मिलते है। कबीर का लक्ष्य अपने मन को अपनी हृदयस्थ गुफा में स्थित अपने आराध्य पर केन्द्रित करना था। मन स्वभावत. बहिर्गामी है। वह बार-बार बाहरी विषयों की ओर चला जाता है। अतः कबीर उसे बहिर्विषयों की ओर जाने से रोकते हैं तथा हृदय-गुफा में स्थित आराध्य की सेवा में लगने का आग्रह करते हैं—

"रे मन बैठि किते जिनि जासी,
हृदय सरोवर है अविनाशी।
काया मध्ये कोटि तीरथ काया मध्ये कासी
काया मध्ये कवल कवलापति काया मध्ये बैकुण्ठ बासी।"

मन की यह धारणा तन-मन जीवन सौंपकर मनसा वाचा कर्मणा होनी चाहिए। यदि ऐसा नही होता तो आत्मा की सारी साधनाएँ व्यर्थ होती हैं। इस बात का कबीर ने पतिव्रता के रूपक से बडे सुन्दर ढंग से कहा है—

"जो पै पिय के मन नहीं भाए।
तौ का परोसिन के हुलराय॥
का चूरा पायल झमकाए।
कहा भयो बिछुआ ठमकाए॥
का काजल सिंदूर के दियै।
सोलह सिंगार कहा भयो किये॥
अंजन मन्जन करै ठगौरी।
का पॉच मरै निगोडी बौरी॥
जौ पै पतिव्रता ह्वै नारी।
कैसे ही वह रहै पियाही पियारी॥

1. योगसूत्र ३।१

तन मन जोवन सौंपि सरीरा।
ताहि सुहागिनि कहै कवीरा॥"

राजयोग का तीसरा अग ध्यान माना जाता है। ध्यान को स्पष्ट करते हुए 'योग दर्शन' में कहा है —

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।'[1]

अर्थात् पूर्वोक्त ध्येय वस्तु में चित्तवृत्ति की एकतानता का नाम ध्यान है। दूसरे शब्दो में यो कह सकते हैं कि अविच्छिन्न रूप से निरतर ध्येय वस्तु में ही अनवरत लगा रहना ध्यान है। 'योगवाशिष्ठ' में ध्यान केन्द्रित करने का अभ्यास तीन प्रकार से बताया गया है। साधक को सबसे पहले ब्रह्म भावना दृढ करनी चाहिए। उसे ऐसा अभ्यास करना चाहिए कि ससार-भर में आत्मतत्त्व की अद्वैतता की ही प्रतीति होती रहे। फिर मन को तन्मय करने का अभ्यास करे। ब्रह्माभ्यास करने से मन ब्रह्माकार होकर विलीन हो जाता है और प्राणो की गति भी स्वय ही रुक जाती है। क्योंकि यह नियम है जो जिस वस्तु की दृढ भावना करता है वह तद्रूप हो जाता है। ब्रह्म भावना के बाद अभाव भावना का अभ्यास आता है। ऐहिक पदार्थों को असत् समझकर उनके पारमार्थिक अभाव की दृढ भावना करना ही अभाव भावना का अभ्यास कह- । इस भावना से समस्त सासारिक द्वैत और द्वन्द्व मिट जाते है। अभाव भावना के बाद केवली भाव का अभ्याम आता है। जब साधक केवल एक आत्मतत्त्व की स्थिति को मानते हुए दृश्य पदार्थों के मिथ्यातत्त्व की दृढ भावना होने के कारण अपने दृष्टापन को भी असत् मानने का अभ्यास करता है। तब उसे 'केवली भाव' का अभ्यास कहते हैं। महात्मा कवीर वास्तव में राजयोगी साधक थे। उनमे हमें ध्यान को केन्द्रित करने के उपर्युक्त तीनो प्रकार के प्रयत्न मिलते है। इन प्रयत्नो के बीच बीच कही उनका रहस्यवादी भी मुखरित हो उठा है। ब्रह्मभावना के अभ्याम की अभिव्यक्ति उन्होंने बहुत-से स्थलो पर रहस्या-

१ योग दर्शन ३।२

रमक ढग से की है।

कबीर ने ध्यान योग की प्राप्ति धीरे-धीरे मानी है। जब साधक ब्रह्मभावना का सतत अभ्यास करता रहता है तब धीरे-धीरे पूर्ण ध्यान की अवस्था प्राप्त होती है। कबीर ने उसे उन्मनी ध्यान का अभिधान दिया है। देखिए निम्नलिखित पक्तियो में ध्यान योग का रहस्यात्मक वर्णन किया गया है—

"अब घट प्रगट भए राम राई।
सोधि सरीर कनक की नाई ॥ टेक।
कनक कसौटी जैसे कसिलेइ सुनारा।
सोधि सरीर भयो तन सारा ॥
उपजत उपजत बहुत उपाई।
मन थिरि भयो तब तिथि पाई ॥
बाहर खोजत जनम गँवाया।
उन्मनी ध्यान घट भीतर पाया ॥
बिन परचे तन काँच कथीरा।
परचै कञ्चन भया कबीरा ॥"

कबीर ने केवली भाव का भी रहस्यात्मक वर्णन किया है—

"मैं सबनि मैं औरनि मैं हूँ सब,
मेरी बिलगि बिलग बिलगाई हो।
कोई कहौ कबीर कोई कहौ राम राई हो ॥ टेक ॥"

"नाहम बार बूढ़ नाही हम ना हमरे चिलकाई हो।
पठिए न जाऊँ अँवा नहीं आऊँ सहजि रहू हरिआई हो ॥
बोढ़न हमरे एक पछेवरा लोक बोलैं इकताई हो।
जुलहे तन बुनि पानन पावल फारि बुनी दस ठाई हो ॥
त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल तब हमरो नाम राम राई हो।
जग मैं देखौ जग न देखै मोहि इहि कबीर कछु पाई हो ॥"

इसी प्रकार अभाव भावना के भी वर्णन मिलते है। उसका एक उदाहरण इस प्रकार है—

"हम तो एक एक करि जाना।
दोई कहै तिनही को दोजक जिन नाहि न पहचाना ॥
एकै पवन एकै पानी एकै ज्योति सँसार।
सब घटि भीतर तू ही व्यापक धरै सरूपै सोई ॥"

अभाव भावना से सम्वन्धित रहस्यात्मक पद कवीर में वहुत कम है। उपर्युक्त पद दर्शन के अधिक समीप है, रहस्यवाद के कम।

ध्यान योग की उपर्युक्त तीन प्रकार की भावनाओ के अभ्यास-सम्वन्धी रहस्याभिव्यक्तियो के अतिरिक्त कवीर में हमें ध्यान के कुछ प्रकारो के रहस्यात्मक वर्णन भी मिलते है। ध्यान के तीन प्रकार प्रसिद्ध है—स्थूलध्यान, ज्योतिर्ध्यान, सूक्ष्मध्यान। स्थूलध्यान में अपने इष्ट देव के स्थूल रूपाकार का ध्यान करना है। भक्त लोग अधिकतर स्थूल ध्यान में ही निमग्न रहते है। ज्योतिर्ध्यान में ज्योति रूपी ब्रह्म का ध्यान किया जाता है। इस कोटि के ध्यान की मान्यता योगियो में है। सूक्ष्मध्यान में साधक चलायमान कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करता है। इसके लिए वह शाम्भवी मुद्रा का अनुष्ठान करता है। भ्रकुटी के मध्य में दृष्टि को स्थिर करके एकाग्र चित्त से ध्यान योग से परमात्मा के दर्शन करना शाम्भवी मुद्रा कहलाती है। इस सूक्ष्म ध्यान की साधना पहुँचे हुए योगी ही कर पाते है। महात्मा कवीर भक्त और योगी दोनो ही थे इसलिए उनमें तीनो प्रकार के ध्यानो से सम्वन्धित उक्तियाँ पाई जाती है, किन्तु रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति उनके ज्योतिर्ध्यान और सूक्ष्म ध्यान से सम्वन्धित उक्तियो में ही पाई जाती है। कबीर ने ज्योतिर्ध्यान के विविध वर्णन लिखे है, उनमे से कुछ काफी रहस्यात्मक हो गए है। कवीर जिस ज्योति को अपने में देखते है वह सौ सूरजो से भी अधिक जाज्वल्यमान है—

"कबीर तेज अनत का, मानो उगी सूरज श्रेणि ।
पति सँग जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि ॥"

यह ज्योति सूर्य और चन्द्र की ज्योति से भी भिन्न होती है । वे लिखते हैं—

"कौतिग दीठा देह बिन, रवि ससि बिना उजास ।
साहिब सेवा माँहि है, बेपरवाही दास ॥"

इस ज्योति का कोई वर्णन नही कर सकता । इसके रहस्य को वही जानता है जिसने इसका साक्षात्कार किया है—

"पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उन्मान ।
कहिबे को सोभा नहीं, देख्या ही परवान ॥"

यह ज्योति अगम अगोचर स्थान में दृश्यमान होती है—

"अगम अगोचर गमि नहीं तहाँ जगमगै ज्योति ।
जहाँ कबीरा बन्दगी पाप पुण्य नहीं छोति ॥"

इसी प्रकार उन्होने अन्य बहुत-से स्थलो पर ज्योतिर्ध्यान के अनेक रहस्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किये है ।

कबीर में सूक्ष्म ध्यान-सम्बन्धी वर्णन भी पाए जाते हैं । बहुत-से स्थलो पर शाम्भवी मुद्रा का भी सकेत मिलता है । देखिए निम्नलिखित पक्ति में उन्होंने त्रिकुटी सगम पर स्वामी के दर्शन की बात कही है—

"सुमति शरीर कबीर विचारी, त्रिकुटी संगम स्वामी ।"

बहुत-से स्थलो पर कबीर ने सूर की चद में समाने की बात कही है । ऐसे स्थलो पर उनका सकेत सूक्ष्म ध्यान की ओर ही मालूम पड़ता है । क्योकि सूक्ष्म ध्यान योगी ही मूलाधार के सूर का सहस्रार के चन्द्र में लय होना देख सकता है । कबीर ने इसका इस प्रकार सकेत किया है—

"सूर समाणाँ चद में, दुहूँ किया घर एक ।
मनका च्यता तब भया, कछू पूरबला लेख ॥"

देखिए निम्न लिखित पद में कबीर ने सूक्ष्म ध्यान की ओर ही संकेत किया है। इसके लिए उन्होंने प्रथम तो हठयोगिक प्रक्रियाओ को संकेत किया है। वास्तव में हठयोग राजयोग का प्रथम सोपान ही है। इसलिए उसकी साधना परमावश्यक होती है। किन्तु कबीर हठयोग के बाद ध्यान योग को भी महत्त्व देते थे। नीचे लिखे पद से इस बात की पुष्टि-सी होती है—

"ऐसा ध्यान धरो नरहरी, सबद अनाहद च्यतन करी
पहली खोजौ पँचे बाइ ब्यंद लै गगन समाइ ॥
गगन ज्योति तहाँ त्रिकुटी संधि, रवि ससि पवना मेलौ बाँध।
मन थिर होइत कवल प्रकासै, कवला माहि निरंजन बासै ॥
सतगुर सँपट खोलि दिखावै, निगुरा होइ तौ कहाँ बतावै ॥
सहज लछिन लै तजौ उपाधि, आसण दिढ निन्द्रा पुनि साधि।
पुहुप पत्र जहाँ हीरामणी, कहै कबीर तहाँ त्रिभुवन धणी ॥"

इस प्रकार हम देखते है कबीर में ध्यानयोग से सबन्धित विविध प्रकार की रहस्योक्तियाँ मिलती है।

राजयोग का अतिम अग समाधि है, ये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अग है। बहुत-से लोग तो इसीको राजयोग का अभिधान देते है। ध्यान ही जब ध्येयाकार रूप से साक्षी में निर्भासित होने लगता है तथा चित्त के ध्येयी स्वरूप में लीन हो जाने के कारण मैं इस प्रकार का ध्यान कर रहा हूँ आदि जैसी अनुभूतियो का उदय होने के कारण जब प्रत्ययात्मक स्वरूप से शून्य हो जाता है तब वही समाधि के नाम से अभिहित किया जाने लगता है। अधिक स्पष्ट शब्दो में कहना चाहे तो ये कह सकते है कि जब ध्यान ज्ञानाकार रूप से अलग निर्भासित न होकर ध्येयाकार रूप से प्रतीत होने लग जाता है तभी उसे समाधि कहने लगते है। 'योग सूत्र' में समाधि की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।"

अर्थात् जिस समय केवल ध्येय स्वरूप का ही भान होता है अपने स्वरूप का भान नही होता तब ध्यान ही समाधि में परिणत हो जाता है। ध्यान में ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी रहती है किन्तु समाधि में केवल ध्येय वस्तु ही शेष रह जाती है। ध्याता, ध्यान और ध्येय मिल कर एक हो जाते हैं। समाधि के सम्बन्ध में कुछ अन्य परिभाषाओ पर विचार कर लेना अनिवार्य है। 'अन्नपूर्णोपनिषद्' और 'जाबालिदर्शनोपनिषद्' में समाधि का स्वरूप इस प्रकार संकेतित किया गया है—"जीवात्मा और परमात्मा की एकता के ज्ञान के उदय को ही समाधि कहते है।" 'मुक्तिकोपनिषद्' में भी समाधि का स्वरूप स्पष्ट किया गया है—

"मुनियो के द्वारा सावित समाधि उस संकल्प-शून्य अवस्था का नाम है, जिसमें न तो मन की क्रिया शेष रहती है न बुद्धि का व्यापार ही। यह आत्मज्ञान की वह अवस्था है जिसमें प्रत्यक् चैतन्य के अतिरिक्त सबका बाध हो जाता है 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में समाधि की अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया गया है—"जिस क्षण हृदय में भरी हुई सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती है उसी क्षण ये मरणधर्मा मनुष्य अमृतत्त्व धारण कर लेता है और इसी जीवन में ब्रह्मानन्द का आस्वादन करता है।" इस प्रकार योग-ग्रंथो में समाधि की अवस्था का विस्तार से वर्णन किया गया है। समाधि की यह अवस्था अनिवेद्य और अनिर्वचनीय होती है। 'मैत्रायण्योपनिषद्' में लिखा है—

"समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो,
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं लभेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥"

अर्थात् समाधि में निमग्न मन आत्मा में लीन होकर आत्म-रस

का पान करता है। उस रस-पान की अवस्था का वर्णन वाणी से नही किया जा सकता, वह केवल अनुभूति की वस्तु है। महात्मा कबीर ने इसीलिए अपनी समाधि की अवस्था की अनुभूतियो को अनिर्वेद्य कहा है—

"देख्या है तो कसू कहूँ, कहूँ तो को पतियाय।
गूँगे केरी शरकरा, बैठे ही मुसकाय॥"

किंतु मनुष्य की यह मनोवैज्ञानिक विशेषता है कि वह अपनी अनुभूतियो की अभिव्यक्ति के लोभ का सवरण नही कर पाता है। कबीर इसका अपवाद नही थे। उन्होंने इसीलिए जगह-जगह पर समाधि की अवस्था के विविध रगी रहस्यात्मक चित्र चित्रित किये है। यहाँ पर हम उनके कुछ सुन्दर चित्र सकेतित कर देना चाहते है। देखिए निम्नलिखित चित्र में कवि ने हठयोगजनित समाधि की अवस्था का कैसा रहस्यात्मक वर्णन किया है—

"अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढ़्या मगन रस पीवै, त्रिभ्रवन भया उजियारा॥
गुड़ करि ग्यान ध्यान कर महुवा, भव भाठि करि भारा।
सुषमन नारि सहजि समानी, पीवै पीवन हारा॥
दोइ पुड़ जोड़ि चिगाई भाठी, चुआ महारस भारी।
काम क्रोध दोइ किया पलीता, छूटि गई ससारी॥
सुनि मँडल मैं मँदला बाजै, तहाँ मेरा मन नाचै।
गुर प्रसादि अमृत फल पाया, सहजि सुषमना काछै॥
पूरा मिल्या तबै सुष उपज्यो, तन की तपनि बुझानी।
कहै कबीर भव-बंधन छूटै, जोतिहि जोति समानी॥"

इस कोटि का एक दूसरा चित्र इस प्रकार है—

"छाकि पर्यो आतम मतिवारा,
पीवत राम रस करत विचारा।

बहुत मोलि मँहगे गुड़ पावा, लै कसाब रस राम चुवावा ॥
तन पाटन मैं कीन्ह पसारा, मांगि मांगि रस पीवै विचारा ।
कहै कबीर फाबी मतिवारी, पीवत राम रस लगी खुमारी ॥"

राजयोगमूलक समाधि के भी सुन्दर चित्र कबीर में मिलते हैं। जब उनकी समाधि लग जाती है तो उन्हें फिर यह भय नहीं रहता कि उनका मन किसी दूसरी ओर चला जायगा। राजयोग से यहाँ हमारा तात्पर्य कबीर की भाव भक्ति से है। वह लिखते हैं—

"रे मन जाहि जहाँ तोहि भावै,
अब न कोई तेरै अंकुश लावै ॥
जहाँ जहाँ जाइ तहाँ तहाँ रामा
हरि पद चीन्हि कियौ विश्रामा ॥
तन रंजित तब देखियत दोई
प्रगट्यौ ग्यान वहाँ वहाँ सोई ॥
लीन निरंतर वपु विसराया,
कहै कबीर सुख सागर पाया ॥"

कबीर ने सहज समाधि की बहुत चर्चा की है। यह सहज समाधि हठयौगिक समाधि से भिन्न है। सहज भाव से सदाचार का पालन करना और भगवान् में भक्ति रखना उनके सहजयोग का लक्षण था। इससे उद्भूत आनन्द को ही उन्होंने सहज समाधिमूलक रस माना है। इस सहज समाधि का एक वर्णन देखिए—

"आत्मा अनदी जोगी। पीवै महारस अमृत भोगी ॥
ब्रह्म अगनि काया परजारी। अजपा जाप उनमनी तारी ॥
त्रिकुटि कोट मैं आसण माँडै। सहज समाधि विषै सब छाड़ै ॥
त्रिवेणी विभूति करै मन मंजन। जन कबीर प्रभू अलख निरंजन॥"

कबीर ने अपने सहजयोग में मन-साधना पर सबसे अधिक जोर

दिया था, क्योकि मन के शुद्ध होने पर ही।मनुष्य सदाचरण में स्वय विश्वास करने लगता है इसीलिए उन्होने मन योग को सहज योग के रूप में प्रतिष्ठा की है उसका वर्णन इन पक्तियो में किया गया है—

"सो जोगी जाकै मन मैं मुद्रा,
राति दिवस न करई निद्रा ॥
मन मैं आसण मन मैं रहणा, मन का जप तप मन सूँ कहणा।
मन मैं षपरा मन मैं सींगी अनहद बेन बजावै रगी ॥
पंच परजारि भसम करि भूका, कहै कबीर सो लहसै लका ॥"

इस मन योग की साधना साधक को समाधि की उस अवस्था में पहुँचा देती है जिसे हम जीवन-मुक्ति की अवस्था कह सकते हैं। उसका वर्णन कबीर ने निम्नलिखित साखी में किया है—

"मैं मंता अविगत रता, अकलप आसा जीति ।
राम अमिल माता रहै, जीवन मुकित अतीति ॥"

इस प्रकार कबीर में हम राजयोग के सुन्दर रहस्यात्मक वर्णन पाते हैं।

मंत्रयोग और कबीर :—मत्रयोग का भी योगियो में बडा मान है। मन्त्र योग का विषय बहुत विस्तृत है उसे स्पष्ट करने के लिए बहुत स्थान और समय की आवश्यकता है। यहाँ पर हम मन्त्र योग से केवल जप-साधना का अर्थ लेकर कबीर में तत्सम्बन्धी रहस्याभिव्यक्तियो पर प्रकाश डालना चाहते हैं। यौगिक साधना में जप का बहुत महत्त्व माना जाता है। उसे हमारे यहाँ एक प्रकार का यज्ञ माना है। गीता में भगवान् ने '*यज्ञानाम् जपयज्ञोस्मि*' कहकर जप की महत्ता प्रतिपादित की है। जप के अनेक प्रकार और भेद माने गए हैं। कबीर आदि सत कवियो ने मानस-जप को बहुत अधिक महत्त्व दिया था। इस प्रकार के जप योग में मत्रावृत्ति केवल मन में की

जाती है। महाराज मनु ने इस मानस-जप का बड़ा भारी महत्व बतलाया है। उनके मतानुसार "दसपौर्णमासरूप" कर्म यज्ञों की अपेक्षा जप यज्ञ दस गुना श्रेष्ठ है। उपांशु जप सौ गुना और मानस जप सहस्र गुना श्रेष्ठ है। इस मानस जप का सबसे सुन्दर और महत्वपूर्ण रूप अजपा जाप है। योगी लोग अधिकतर इसीकी साधना करते हैं। इस अजपा जाप में श्वासोच्छ्वास की क्रिया के साथ ही साथ मंत्रावृत्ति की जाती है। इस में जब श्वास में पूरक होता है तब सो का उच्चारण मन-ही-मन में किया जाता है। रेचक (श्वास के नीचे लौटने में या बाहर निकलने) में अह का मानसिक उच्चारण माना जाता है। प्रारम्भ में पूरक और रेचक के साथ मंत्रावृत्ति की भावना करना बड़ा कठिन होता है। किन्तु धीरे-धीरे जब अभ्यास हो जाता है तब साधक अपनी आत्म-शक्ति के दर्शन करने में समर्थ होता है। अजपा जाप का सम्बन्ध नाद-भावना से माना जाता है। कहते हैं इक्कीस सौ साठ जप पूर्ण होने पर नाद जाग्रत होता कबीर इस रहस्य से परिचित थे निम्नलिखित पद में इसी रहस्य का संकेत किया गया है—

"अवधू जोगी जग से न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सिंगी, नाद न पंडै धारा॥
बसै गगन में दुनीं न देखै, चेतिन चौकी बैठा।
चढ़ि अकास आसन नहि छाड़ै, पीवै महारस मीठा॥
परगट कन्था माँहै जोगी, दिल मैं दरपन जोवै।
सहस इकीस छ सै धागा, निहचल नीकै पीवै॥
ब्रह्म अगिनि में काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै।
कहै कबीर सोइ जोगेश्वर, सहज सुनि ल्यौ लागै॥"

इस प्रकार कबीर में बहुत-से ऐसे वर्णन मिलते हैं जिनमें अजपा-जाप के रहस्यात्मक संकेत किये गए हैं। विस्तार भय से उनको उद्धृत

नही कर पा रहे है। इस प्रकार हम देखते है कि कबीर में हमें हठयोग, लययोग, राजयोग, मन्त्रयोग तथा और विविध प्रकार के योगो से सम्बन्धित रहस्यपूर्ण वर्णन मिल जाते है। इन वर्णनो को देखकर कबीर की कविता पर चमत्कृत हो जाना पडता है। योग-जैसे जटिल विषय का उन्हे सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान था, उनकी काव्यात्मक प्रवृत्ति और चमत्कार पूर्ण अभिव्यक्ति ने इस ज्ञान को रहस्यवाद के साँचे में ढालकर और भी जटिल और चमत्कारपूर्ण बना दिया है। निश्चय ही वह हमारी भाषा के सर्व श्रेष्ठ साधनात्मक रहस्यवादी थे। साधानात्मक रहस्यवाद या यौगिक रहस्यवाद में हमें रहस्यवाद की अन्तर्मुखी प्रक्रिया ही सक्रिय मिलती है। इस प्रकार की प्रक्रिया में रहस्यवादी अपने अन्तर के रहस्यो का ही उद्घाटन करता है। कबीर ने अपने हठयोगिक, लय यौगिक आदि सभी वर्णनो में अपने शरीरान्तर्गत रहस्यो का ही उद्घाटन किया है। जहाँ कही उन्होने रहस्यवाद की वहिर्मुखी प्रक्रिया को अपनाने का प्रयत्न भी किया है वहाँ वे सफल नही हो पाए है। उनकी बहिर्मुखी प्रक्रिया भी अन्तर्मुखी प्रक्रिया का ही रूप धारण करने लग जाती है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित पद ले सकते है—

"अभ्यंत प्यत ए माधौ, सो सब माँहि समाँना।
ताहि छाड़ि जे आँन भजत हैं, ते सब भ्रंमि भुलाना॥
ईस कहें मैं ध्यान न जानूँ, दुरलभ निज पद मोहीं।
रंचक करुणाँ कारणि कैसो, नाँव धरण कौं तोहीं॥
कहौ धौ सबद कहाँ थै आवै, अरु फिरि कहाँ समाई।
सबद अतीत का मरम न जानैं, भ्रंमि भूली दुनियाई॥
प्यण्ड मुकति कहाँ ले लीजै, जो पद मुक्ति न होई।
पींडैं मुकति कहत हैं मुनिजन, सबद अतीत था सोई॥
प्रकट गुपत गुपत पुनि प्रकटत, सो कत रहै लुकाई।
कबीर भनाए परमानन्द, अकथ कथ्यौ नहीं जाई॥"

इस पद में पहले तो वे वर्णनात्मक शैली में बहिर्प्रक्रिया वाले रहस्यवाद को लेकर चले हैं, बाद में वे शब्दवाद का आध्यात्मिक शैली में कथन करने लगते हैं। अतएव रहस्यवाद की बहिर्मुखी प्रक्रिया अधूरी ही रह जाती है।

: ४ :

अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद

भावात्मक और साधनात्मक रहस्यवाद के अतिरिक्त हमें कबीर में एक प्रकार का रहस्यवाद और मिलता है। इस प्रकार के रहस्यवाद में न तो भावात्मक रहस्याभिव्यक्ति मिलती है और न साधनात्मक रहस्याभिव्यंजना ही। इस प्रकार के रहस्यवाद की रहस्यात्मकता का आभास केवल अभिव्यक्तिमूलक जटिलता और चमत्कार के कारण होता है इसीलिए हमनें इसे अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद का अभिधान दिया है।

अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के भी कई प्रकार और स्वरूप हो सकते हैं। सक्षेप में हम उनका निर्देश इस प्रकार कर सकते हैं—

१—आध्यात्मिक तथ्यो का उलटवासियो के रूप में कथन करना।

२—साधारण-सी बातो को अद्भुत रूप से रोचक शैली में प्रकट करना।

३—केवल पारिभाषिक शब्दो के सहारे कुछ अस्पष्ट शैली में किसी अस्पष्ट तथ्य का कथन करना।

४—लक्ष्यहीन रूपको अन्योक्तियो आदि अलंकारो तथा प्रतीको आदि की योजना करना।

१—*आध्यात्मिक तथ्यों का उलटवासियों के रूप में कथन:*—अध्यात्म का विषय सदा से ही बडा गूढ रहा है। दर्शनिकों की बुद्धि भी कभी-कभी उसे स्पष्ट करने में असफल हो जाती है। फिर

निम्नलिखित छोटी-सी साखी लेते है—

"नदियाँ जल कोयला भई , समुन्दर लागी आग ।
मछी रूखा चढ गई, देख कबीरा जाग ॥"

अर्थात् जब आत्म-तत्त्व रूपी समुद्र मे ब्रह्म-प्रेम रुप की अग्नि प्रज्वलित हो जाती है तो कुप्रवृत्तियाँ रूपी नदियाँ जलकर खाक हो जाती है। मछली रूपी जीव ऊर्ध्वगामी हो जाता है। इस प्रकार कबीर को जागृतावस्था प्राप्त हुई। इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण नीचे और दिया जाता है—

"कैसे नगरि करौं कुटवारी, चंचल पुरिष विचषन नारी ॥
बैल बियाइ गाइ भइ बांझ, बछरा दूहै तीन्यू सांझ ।
मकडी घरि माषी छछि हारी, मास प सारी चील्ह रखवारी ॥
मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोवें साँप पहरइया ।
नित उठि स्याल स्यंघ सू झूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै ॥"

इस पद में उन्होने गूढ आध्यात्मिक सिद्धान्तो की अभिव्यक्ति उलटबांसियो के रुप में की है। इसमें मानव-शरीर को नगर का प्रतीक माना गया है। साधक आत्मा उसका वर्णन करने वाली है। वह कहती है कि इस शरीर में कैसे रहा जाय। इसका स्वामी मन और उसकी पत्नी इच्छा दोनो ही चपल और उच्छृङ्खल है। बैल रूपी अज्ञान नित्य-प्रति अपना विस्तार करता जाता है। सद्बुद्धि रूपी गाय नित्य-प्रति कल्याण-विधान की भावना से वियुक्त होती जाती है। काल रूपी बछडा मनुष्य-जीवन का यापन करता जाता है। माया रूपी मकडी के घर में कामना रूपी मक्खी फँसकर के जीवन को नष्टप्राय करने लगती है। इस प्रकार मास रूपी मनुष्य, माया रूपी चील को सौंप दिया गया है तब भला उसका कल्याण हो भी कैसे सकता है। जीव रूपी चूहा भवसागर रुपी समुद्र में शरीर रूपी नाव में वासना रूपी बिलैया

खेने का प्रयत्न करता है। वास्तव में वासना को लेकर जीव का कभी कल्याण नहीं हो सकता। इसी तरह मेंटक रूपी मनुष्य ने अपने को अज्ञान रूपी सूर्य की सुरक्षा में रख छोड़ा है। इस प्रकार इस शरीर रूपी नगर में अज्ञान रूपी सियार ज्ञानरूपी सिंह से युद्ध, करता रहता है। शरीर के अन्दर होने वाले ज्ञान और अज्ञान के द्वन्द का वर्णन करना ही इस पद में कबीर का प्रधान लक्ष्य है। इस द्वन्द का चित्रण उन्होंने विरोधी बातो का चमत्कारपूर्ण शैली में उलटवासी के रूप में किया है। इस प्रकार की सैकड़ो उलटवासियाँ कबीर में मिलती हैं। इनमें एक प्रकार का अभिव्यक्तिमूलक चमत्कार, दुरूहता और जटिलता पाई जाती है। इसीलिए हम इन्हें अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के अन्तर्गत मानते हैं।

साधारण-सी बातों को अद्भुत रूप से रोचक शैली में प्रकट करना—साधारण-सी बातो को रोचक शैली में अत्यन्त दुरूह और जटिल ढंग से अभिव्यक्त करना कबीर की एक अपनी अलग विशेषता थी। इस प्रकार की उक्तियो में उलटवासीगत चमत्कार-प्रधान नहीं होता है। ली की रोचकता इस प्रकार की अभिव्यक्ति की प्रधान विशेषता होती है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित अवतरण को ले सकते हैं—

"हरि के षारे बड़े पकाये, जिनि जारे तिन पाये।
ग्यान अचेत फिरै नर लोई, तामै जनमि जनमि डहकाये॥
धौल मंदलिया बैलर बाबी, कऊवा ताल बजावै।
पहरि चोल नागा दह नाचै, भैंसा निरति करावै॥
स्यंघ बैठा पान कतरै, घूँस गिलौरा लावै।
उ दरी बपुरी मंगल गावै, कछु एक आनन्द सुनावै॥
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, गडरी परवत खावा।
चकवा बैसि अँगारे निगलै, समंद आकासा धावा॥"

ये पद बडा ही जटिल और गूढ है। यद्यपि अन्तिम पंक्तियो में विरोधात्मक बातो का कथन किया गया है। किन्तु इसका वास्तविक सौन्दर्य मध्य पंक्तियो में ही अन्तर्निहित है। गदहा चोलना पहनकर नाचता है, भैंसा नृत्य करता है आदि बातें बडी ही चमत्कारपूर्ण और रोचक प्रतीत होती हैं। प्रतीकात्मक रूपक में बाँधे जाने के कारण ये अपना आध्यात्मिक अर्थ भी रखती हैं। किन्तु इस आध्यात्मिक अर्थ को स्पष्ट करना वास्तव में टेढी खीर है। इस ढग के पद कबीर में बहुत मिलते हैं। इस प्रकार की उक्तियाँ अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद से ही सम्बन्धित मानी जायेंगी—

"*केवल पारिभाषिक शब्दों के सहारे कुछ अस्पष्ट शैली में किसी अस्पष्ट तथ्य का कथन करना*ः—कबीर के अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद की सृष्टि उन्होंने एक दूसरे ढग से भी की है। वे विविध पारिभाषिक शब्दो के इन्द्र-जाल में भी पाठको की बुद्धि को फँसा लेते हैं। ये पारिभाषिक शब्द तत्कालीन विविध दर्शनो और साधनाओ से लिये गए है। इनमें से बहुत-से दर्शन और साधनाएँ अब बिलकुल लुप्त हो गई है। कही-कही पर उनका समझना इसीलिए कठिन हो जाता है। इनके अधिकाश पारिभाषिक शब्द हठयोग से लिए जान पडते है। यहाँ पर हम उदाहरण के लिए उनके कुछ हठयौगिक पारिभाषिक शब्द उद्धृत कर देना चाहते है—

वकनाली—सुषुम्ना

मानसरोवर—सहस्रार में स्थित मानसरोवर या अमृत कुण्ड

मूल—मूलाधार चक्र

सूरति—वहिर्मुखी जीवात्मा

निरति—अन्तर्मुखी प्रत्यगात्मा

अजपाजप—मानस जप का एक प्रकार; इसको अभी पीछे स्पष्ट कर आए हैं।

नाद—शब्द ब्रह्म

बिन्दु—जीव-शक्ति

इस प्रकार के सैकड़ो पारिभाषिक शब्द कबीर में मिलते हैं। इनके पदो में प्रायः इन शब्दो की योजना पाई जाती है। किसी-किसी पद में एक साथ ही कई पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया गया है। ऐसे पदो को समझना बड़ा कठिन हो जाता है। इसीलिए हम उन्हें अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के अन्तर्गत मानते हैं—

"हिंडोलना तहँ झूलै आतमराम।
प्रेम भगति हिंडोलना सब संतान को विश्राम॥
चंद सूर दुई सम्भवा बंक नालि की डोर।
झूलै पंचपियारियाँ तह झूलै जिय मोर॥
द्वादस गम के अन्तरा तहाँ अमृत को वास।
जिनि यह अमृत चाखिया सो ठाकुर हम दास॥
सहज सुनि को नेहरौ गगनमण्डल सिरमौर।
दोऊ कुल हम आगरी जो हम झूलै हिंडोल॥
अरध उरध की गंगा जमुना मूल कँवल को घाट।
षटचक्र की गागरी त्रिवेणी संगम बाट॥"

कबीर ने इस पद में चन्द सूर, बंकनालि सुन्नि, गगनमण्डल, गंगा, जमुना, मूल कमल, षट्चक्र, त्रिवेणी आदि कई पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग एक साथ किया है। चूँकि ये शब्द हठयोग के हैं, अतः यह हठयौगिक रहस्यवाद और पारिभाषिक शब्दमूलक रहस्यवाद दोनो का उदाहरण है। ऐसा ही एक दूसरा उदाहरण यह है—

"मन के मोहन विठुला, यह मन लागो तोहि रे।
चरन कँवल मन मानिया और न भावै मोहि रे॥ टेक॥
षटदल कँवल निवासिया चहु को फेरि मिलाइ रे।
दहु के बीच समाधिया तहाँ काल न पासै आइ रे॥

अष्ट कंवल दल भीतरा तँह श्री रंग कैलि कराइरे।
सद्गुरु मिलै तो पाइए नहिं तो जन्म अकारथ जाइ रें॥
कदली कुसुम दल भीतरा तँह दस अगुल को वीच रे।
तहाँ दुआदस खोजि के जनम होत नांह मीच रे॥
बंक नालि के अन्तरे पछिम दिसा की बाट रे।
नीझर झरै रस पीजिए तहाँ भवर गुफा के घाट रे॥
त्रिवेणी मनाह न्हवाइए सुरति मिलै जो हाथि रे।
तहाँ न फिरि मघ जोइए सनकादिक मिलिहैं साथि रे॥
गरजि मघ जोइए तहाँ दीसै तार अनन्त रे।
बिजरी चमकी घन वरसि है तह भीजत सब सन्त रे॥
षोडस कंवल जब चेतिया तब मिलि गए बनवारी रे।
जुरा मरण भ्रम भाजिया पुनरपि जनम निवारि रे॥
गुरु गमिते पाइये झखि मरै जिनि कोइ रें।
तहाँ कबीरा रमि रहा सहज समाधि जोथरे॥"

इस पद में षटदलकँवल, अष्टकँवल, बकनालि, भँवरगुफा, त्रिवेणी, गगन, षोडस कँवल आदि पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया गया है। इस कारण तो इसमें अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद है। यौगिक बातो का वर्णन होनें के कारण यह हठयौगिक या साधनात्मक रहस्यवाद के अंतर्गत भी आता है। प्रारम्भिक पंक्तियो में भावो की प्रधानता होने के कारण इसमें हम अनुभूतिमूलक रहस्यवाद की छाया भी पाते हैं।

यहाँ पर इस प्रकार के रहस्यवाद की व्यञ्जना करने वाले कुछ पारिभाषिक शब्दो और उनके अर्थों का उल्लेख कर देना आवश्यक है।

षट् कर्म—धौति, गजकरणी, वस्ति, नौलि, नेति, कपालभाति कोई कोई त्राटक समेत सात मानते हैं।

षट् चक्र—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत विशुद्ध और आज्ञाचक्र।

षोडश आधार—दाहिने पैर का अँगूठा, गुल्फ, गुदा, लिंग, नाभि, हृदय, कण्ठकूप, तालु मूल, जिह्वामूल, दन्तमूल, नासिकाग्र, भ्रूमध्य, नेत्र मण्डल, ललाट, मस्तक और सहस्राट।

योग के अष्टांग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि।

पञ्च क्लेश—अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष और अभिनिवेश इस प्रकार के सैकड़ों पारिभाषिक शब्द और प्रचलित हैं। कबीर ने कभी-कभी इस ढंग के शब्दों के प्रयोग के सहारे पारिभाषिक शब्द-जनित रहस्यवाद की व्यंजना की है। यहाँ पर इस प्रकार के रहस्यवाद के दो-एक उदाहरण दे देना अनुपयुक्त न होगा। देखिए निम्नलिखित साखी में कलाओं और विद्याओं का संकेत उनके समूह की संख्याओं के सहारे किया गया है।

"चौसठ दीवा जोय करि चौदह चंदा माँहि।
तिहि घर किसको चानिड़ो जेहि घर गोविन्द नाँहि॥"

अर्थात् मनुष्य चाहे चौसठ कलाओं में निपुण हो और चाहे १४ विद्याओं में पारंगत हो किन्तु गोविन्द ज्ञान के बिना वह अज्ञानी ही रहता है। उसका हृदय सच्चे ज्ञान से ज्योतित नहीं होता। यहाँ पर यदि चौसठ और चौदह का सांकेतिक अर्थ न विदित हो तो साखी समझ में नहीं आ सकती। अपनी इस जटिलता के कारण ही यह साखी अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के अन्तर्गत आती है। इस तरह के और बहुत से उदाहरण कबीर में ढूँढे जा सकते हैं।

: ५ :

कबीर के रहस्यवाद की अभिव्यक्ति

रहस्यात्मक अनुभूतियाँ—रहस्यवाद का सौन्दर्य बहुत-कुछ उसकी अभिव्यक्ति पर आधारित रहता है। रहस्यवादी उस रहस्यमय से भावात्मक तादात्म्य अथवा प्रणय-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए व्याकुल रहता है। इसी व्याकुलता की स्थिति में वह प्रियतम का ध्यान करते-करते उसके प्रेम में निमग्न हो जाता है। इसीको भाव-निमग्नता की स्थिति कहते हैं। इस भाव-निमग्नता की स्थिति में साधक को रहस्यमय की ऐसी झाँकियाँ दिखाई पडती हैं, जिनका वह वर्णन नही कर सकता है। वह स्थिति वास्तव में अनिर्वच होती है। इस बात को प्राच्य और पाश्चात्य सभी साधको ने स्वीकार किया है। पाश्चात्य विद्वान् James ने अपनी रहस्यानुभूति की स्थिति का सकेत करते हुए लिखा है कि उसकी उस रहस्यमय की अनुभूति ठीक उसी प्रकार होती है,जैसे कोई मस्तिष्क में गूजती हुई स्वर लहरी की होती है। स्वर लहरी के रस की अनुभूति तो होती है किन्तु उसका वर्णन नही किया जा सकता। उसके सम्बन्ध में वह स्वय लिखता है—

"It is very vague and impossible to describe or put into words......Especially at times of moral crisis it comes to me, as the sense of an unknown something backing me up. It is most indefinite, to be sure rather, faint. And yet I

know if it should cease there would be great husha great void in my life."[1]

अर्थात् यह अनुभूति बड़ी धुँधली होती है। इसका वर्णन करना कठिन होता है। विशेषकर नैतिक पतन के अवसर पर रहस्यमय की यह अनुभूति मुझे प्रेरणा प्रदान करती है। यदि यह अनुभूति मुझसे छीन ली जाय तो मेरा जीवन शून्य रूप हो जायगा।

रहस्यवादी अनुभूति की श्रद्धामूलकता.—इस प्रकार की अनुभूति तर्कमूलक न होकर श्रद्धामूलक होती है। सत्य की अनुभूति वास्तव में श्रद्धा ही से हो सकती है Theologia Germaniea में इस तथ्य को इस प्रकार प्रकट किया गया है "He who would know before he believeth, cometh never to true knowledge" अर्थात् वह जो किसी सत्य की अनुभूति के लिए ज्ञान का आश्रय लेता है वह उसकी अनुभूति नहीं कर पाता। उनकी अनुभूति वही कर सकता है जो श्रद्धा के सहारे उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए श्रुति में एक कथा दी हुई है। एक शिष्य अपने गुरु से ब्रह्म-सम्बन्धी प्रश्न पूछता है। गुरु अनेक तर्कों के सहारे उसे ब्रह्म का स्वरूप समझाता है। किन्तु वह सत्य का स्वरूप समझने में असमर्थ रहता है। इस पर गुरु बरगद के एक फल को लेकर शिष्य से उसे तोड़ने के लिए कहता है। शिष्य उसे तोड़ता है। उसमें गुठली निकलती है। वह उससे गुठली भी तोड़ने का आग्रह करते हैं। जब शिष्य गुठली तोड़ता है तो गुरुजी पूछते हैं इसके अन्दर क्या है। उत्तर में शिष्य कहता है इसमें कुछ नहीं है। इस पर गुरु ने उसे समझाया कि यदि कुछ न हो तो फिर इतना बड़ा वट-वृक्ष कैसे उत्पन्न होता। इसमें कुछ है अवश्य किन्तु वह तर्कसिद्ध

---

१ 'The Religious Philosophy of William James' by J. B Pratt.

नही है। उसका ज्ञान श्रद्धा से ही हो सकता है। रहस्यवादी की अनुभूति भी श्रद्धा-समन्वित होती है। वह अपने प्रियतम के गुण रूप आदि के प्रति श्रद्धा करता है। यह श्रद्धा ही उसके भाव-लोक में मूर्तिमान होती है वह उसीमें तन्मय रहता है। तर्क की पहुँच कुछ सीमाओ तक ही रहती है किन्तु श्रद्धा असीम को भी मूर्तिमान कर देती है। हमारी वाणी ससीम है। ससीम से असीम की अभिव्यक्ति नही हो सकती। किन्तु असीम की श्रद्धामूलक अनुभूतियो को, उनकी प्रेयता और श्रेयता के कारण बिना अभिव्यक्त किये भी रह सकता है। इसके लिए रहस्यवादी को अभिव्यक्ति की विविध प्रतीकात्मकप्रणालियो का आश्रय लेना पडता है।

रहस्यवादी की दृष्टिः—रहस्यवादी की दृष्टि भी सामान्य मानव से भिन्न होती है। रहस्यवादी की सबसे प्रधान विशेषता उसकी भावुकता है। यही प्रत्यक्ष में अप्रत्यक्ष का आरोप करना सिखाती है। एक प्रत्यक्ष में आरोप भी द्विविध त्रिविध यहाँ तक कि चतुर्विध तक होता है। एक अँगरेज कवि ने इस प्रकार की दृष्टि का वर्णन करते हुए लिखा है—

"What to others is a trifle appears,
Fills me full of smiles or tears,
For double the vision my eye dose see,
And a doulbe vision is always with me

With my inward eye, 'tis an old mangrey,
With my outward, a thistleacross my way,
Now I a four fold vision see,
And a four fold vision is given to me
'Tis fourfold in my supreme delight,
And three fold in soft Beula's night,

And two fold always May God us keep,
From single vision and Newton's sleep."

इस प्रकार इस अंग्रेज रहस्यवादी की दृष्टि कभी द्विमुखी, कभी त्रिमुखी और कभी चतुर्मुखी तक हो जाती थी। इसका कारण उसकी कल्पना थी। उसकी कल्पना ज्यो-ज्यो गतिवती होती जाती थी उसकी दृष्टि भी उतनी ही विस्तृत होती जाती थी। इस प्रकार की विविध दृष्टियो को एक साथ शब्दो में बांधना बडा कठिन होता है। इसीलिए रहस्यवादी को विविध प्रकार की प्रतीक-प्रधान चमत्कारपूर्ण अभिव्यंजना की शैलियो को अपनाना पड जाता है।

रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की विविध प्रणालियाँ—महात्मा कबीर ने अपनी रहस्यात्मक अनुभूतियो को व्यक्त करने के लिए विविध प्रकार की अभिव्यजना-पद्धतियो का प्रयोग किया है। सक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

(१) प्रतीक-पद्धति
(२) उलटवासी-पद्धति
(३) अलङ्कार-पद्धति

प्रतीक-पद्धति—अनभिव्यक्त को व्यक्त करने के लिए तथा व्यक्त को रहस्यमय बनाने के लिए प्रतीको का प्रयोग सभी देशो में अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है। विविध उदाहरण देकर हम निबन्ध का विस्तार नही करना चाहते है। यहां पर हम केवल महात्मा कबीर की प्रतीक पद्धति पर विचार करेंगे। महात्मा कबीर की प्रतीक-पद्धति एक ओर तो सूफियो से प्रभावित थी और दूसरी ओर गोरख पंथियों से।

स्त्री का महत्व—सूफी रहस्यवादी साधको ने दिव्य प्रेम को अपनी साधना में बहुत अधिक महत्त्व दिया है। लोक में इस दिव्य प्रेम का प्रतीक स्त्री है। जलालुद्दीन रूमी ने उसके सम्बन्ध में लिखा है—

"Woman is a ray of God,
She is not the earthly beloved.

She is creative, you might,
Say she is not created."[1]

"अर्थात् स्त्री ईश्वर-ज्योति की किरन है, वह लौकिक प्रेमिका-मात्र नही होती। वह सृष्टा भी है। हम यो कह सकते है कि उसकी सृष्टि ही नही की गई है।" यही कारण है सूफी साधको ने अपने दिव्य प्रेम की अभिव्यक्ति प्रेमी-प्रेमिका के प्रतीको के सहारे की है। महात्मा कबीर ने भी इन प्रतीको को अपनाने का प्रयत्न किया था। किन्तु मर्यादावादी भारतीय सन्त होने के कारण उन्होने उन्हे प्रेमी और प्रेमिका के रूप में न अपनाकर पति और पत्नी का रूप दे दिया है। कबीर के रहस्यवाद का प्राण वास्तव में यह दाम्पत्य-प्रतीक ही है। पीछे प्रणय-तत्त्व का विवेचन करते समय हम दाम्पत्य-प्रतीको से युक्त सैकडो उदाहरण दे चुके हैं। यहा पर हम उनमें से दो-एक की दो-दो पंक्तियाँ देकर इसको स्पष्ट कर देना चाहते है—

(i) *"हरी मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया"*
(ii) *"बहुत दिनन थै मैं प्रीतम पाए,*
भाग बड़े घर बैठे आए।"

सूफी साधको ने आत्मा और परमात्मा के प्रणय भाव की अभिव्यक्ति नदी और समुद्र के प्रतीको से भी की है। जलालुद्दीन रूमी ने एक स्थल पर लिखा है—

"That which is of the sea, is going to the sea, *it is going to the place* whence it came. From the mountain the swift rushing torrent, and from our body the soul whose motion is inspired by love."[2]

१. निकलसनकृत अनुवाद।
२. वही।

महात्मा कबीर ने नदी और समुद्र के प्रतीकों के स्थान पर बूँद और समुद्र के प्रतीकों से आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति की है—

"हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराय।
बूँद समानी समुँद में सो कत हेरी जाय॥"

हठयौगिक प्रतीक—महात्मा कबीर ने बहुत-से हठयोग के वर्णन प्रतीकों के सहारे ही लिखे हैं। इन प्रतीकों की प्राप्ति कबीर को गोरखपन्थियों से हुई थी। गोरखपन्थियों ने ब्रह्मरन्ध्र के लिए शून्य का प्रतीक प्रयुक्त किया है। गोरखनाथ लिखते हैं—

"अजपा जपै सुनि मन धरै", इत्यादि।

महात्मा कबीर ने भी शून्य को ब्रह्मरन्ध्र का प्रतीक माना है।

इसी प्रकार सहस्रार के लिए गगन-मंडल और ब्रह्मरन्ध्र के लिए 'औंधा कूवा' का प्रयोग गोरखनाथ तथा कबीर दोनों ने किया है। गोरखनाथ लिखते हैं—

"गगन मंडल में औंधा कूँवा तहँ अमृत का वासा"

कबीर कहते हैं—

"आकासे मुख औंधा कुँवाँ पाताले पनिहारि"

इसी प्रकार कबीर ने नाथपंथियों के और भी बहुत-से प्रतीक अपनाए हैं। सिद्धों के कुछ प्रतीक भी उन्होंने ज्यों-के-त्यों ग्रहण कर लिए थे, जैसे देखिए तन्तिपा की निम्नलिखित पंक्तियों को कबीर ने ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया है—

"बलद बिआएल गविआ बाँझे पिटा दुहिए इतना साँझे।"

इसीका रूप बदल कर कबीर कहते हैं—

"बैल वियाय गाइ भई बाँझ,
बछरा दूहै तीन्यो साँझ।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर सिद्धों और नाथों की प्रतीक-पद्धति

से प्रभावित हैं।

कबीर ने बहुत-से प्रतीक हठयोग के ग्रंथों से भी ग्रहण किये थे। 'हठयोग प्रदीपिका' में पिंगला नाडी का सूर्य और इडा नाडी का चन्द्र के प्रतीक से वर्णन किया गया है—

"प्राण सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदर शनैः।
विधिवत्कुम्भक कृत्वापु नश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥"

सूर्य और चन्द्र के प्रतीकों को स्पष्ट करते हुए टीका में इस प्रकार लिखा है *"सूर्येण सूर्यनाड्या पिंगलया"* इसी प्रकार 'चन्द्रेण' को स्पष्ट करते हुए लिखा है—*"चन्द्रेण इड़या"*। कबीर ने भी बहुत से स्थलों पर इडा और पिंगला के लिए चन्द्र और सूर्य के प्रतीक अपनाए हैं।

यौगिक ग्रन्थों में सख्यामूलक प्रतीकों की भी योजना मिलती है। उदाहरण के लिए 'त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद्' में लिखा है—

"यद्यष्टादश भेदेषु मर्मस्थानेषु धारणम्।
स्थानात् स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारः स उच्यते ॥"

अब यहाँ पर यदि अष्टादश मर्म स्थानों का नाम ज्ञात न हो तो बात अस्पष्ट ही रह जायगी। कबीर ने १८ के स्थान पर सोलह मर्म स्थान माने हैं। अन्य यौगिक ग्रन्थों में १६ ही माने गए हैं। उनकी अभिव्यक्ति उन्होंने *'सोरह मधे पवन झकोरिया'* लिखकर की है। इस प्रकार सख्यावाचक प्रतीकों का प्रयोग कबीर ने विविध प्रकार से किया है।

महात्मा कबीर ने कुछ भौतिक प्रतीकों की भी कल्पना की है। सात्विक प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने बालक और माँ के प्रतीकों को अपनाया है।

"हरि जननी मैं बालक तेरा"

कबीर में मौलिक प्रतीकों की कमी नहीं है। देखिए उन्होंने निम्नलिखित साखी में नदी के प्रतीक कुप्रवृत्तियों का सकेत किया है तथा ब्रह्म के लिए समुद्र का प्रतीक कल्पित किया है—

"नदिया जल कोयला भई समुन्दर लागी आग।
मंछी रूखा चढ़ गई देख कबीरा जाग॥"

इसी प्रकार देखिए निम्नलिखित साखी में जोगी को आत्मा का प्रतीक कल्पित किया गया है। तथा झल विरह की द्योतक है। खपरा शरीर का बोधक माना जा सकता है विभूति मिट्टी के लिए प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है—

"झल उठी झोली जली खपरा फूटिम फूट।
जोगी था सो रमि गया आसणि रही बिभूति॥"

इसी प्रकार कबीर ने अपने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति विविध प्रकार के प्रतीको के सहारे की है। उन सबका उल्लेख किया जाय तो एक पोथा बन जायगा।

उलटवासियाँ :—कबीर ने अपने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति, उलटबासियों के सहारे भी की है। उलटवासियो की परम्परा भी बहुत प्राचीन है। अनिर्वच रहस्यात्मक गूढ बात ऋग्वेदिक काल से लेकर आज तक उलटवासियो में ही कही जाती रही हैं। कबीर को सिद्धो और तान्त्रिको तथा सूफियो से उलटबासियो की परम्परा मिली थी। उस परम्परा को उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर विकसित किया था। कबीर की उलटबासियाँ अधिकतर विरोधमूलक अलकारो के सहारे खड़ी की गई हैं विरोधमूलक अलकारो में सबसे प्रधान विभावना, विरोधालकार, असगति. विशेषोक्ति, विषम, विचित्र अधिक व्याघात आदि प्रमुख हैं। कबीर का अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद अधिकतर अलकारो के सहारे विकसित हुआ है। निम्नलिखित रहस्यात्मक वेलि का वर्णन देखिए—

"आगे आगैं धौं जलैं पीछे हरिया होय।
बलिहारि ता बिरख की जड़ काटया फल होय॥"

"जे काटौ तौ डहडही सीचौ तो कुम्हिलाय,
इस गुणवती वेली का कुछ गुण कहा न जाय ॥"

उपर्युक्त साखियो में उलटवासी की योजना विशेपोक्ति विभावना और विरोध के सकर से की हुई जान पडती है।

कही-कही उलटवासियो की योजना प्रतीको के सहारे भी की गई है। एक जगह वे लिखते है—

"कहणीं रहणी निज तत जाणै।
यहु सब अकथ कहाणी।
धरती उलटि अकासहि ग्रासै,
यहु पुरिपा बाणी ॥
बाझ पियालै अमृत सो सोख्या,
नदी नीर भरि राष्या।
कहै कबीर ते विरला जोगी,
धरणि महारस चाख्या ॥"

इन पक्तियो में धरती मूलाधार का प्रतीक और अकास ब्रह्मरन्ध्र का प्रतीक माना गया है। इन दोनो प्रतीको के प्रयोग से "अकथ कहाणी" कही गई है।

बहुत-से स्थलो पर उलटवासियो की सर्जना रूपकात्मक प्रतीको के सहारे की गई है। निम्नलिखित उदाहरण में देखिए रूपकात्मक प्रतीको के सहारे रहस्यवाद की सृष्टि की गई है—

"अवधू सो जोगी गुरु मेरा, जो या पद का करै निवेरा।
तरवर एक पेड़ विन टाढा विन फूला फल लागा ॥
साखा पत्र कछू नहिं वाके अष्ट गगन मुख वागा।
पैर विन निरतिकरा विन बाजै जिभ्या हीणा गावै।
गावणहारे के रूप न रेखा सत गुरु होय लखावै ॥"

उपर्युक्त पद में तरुवर का प्रतीकात्मक रूपक उलटवासी के रूप में

खड़ा किया गया है।

प्रतीकात्मक रूपक-प्रधान उलटवासियाँ :—कहीं-कहीं कबीर ने प्रतीकात्मक रूपक-प्रधान उलटवासियों की सृष्टि अद्भुत रस के परिपाक के सहारे की है। निम्नलिखित पद ऐसा ही है—

"ऐसा अदभुत मेरे गुरु कथ्या, मैं रहया उमैषे।
मूसा हस्ती सो लड़ै कोई विरला पैखै॥
मूसा पैठा बाम्बि में लारै सापणि धाई।
उलटि मूसै सापणि गिली यह अचिरज भाई॥
चींटी परवत उषण्या ले राख्यौ चौड़ै।
मुर्गा मिनकू सू लड़ै, झल पाणी दौड़ै॥
सुरही चूँषै बछतलि बछा दूध उतारै।
ऐसा नवल गुणी भया सारदुलहि मारै॥
भील लुक्या बन बीझ में ससा सर मारै।
कहै कबीर ताहि गुरु करों जो यह पदहि बिचारै॥"

कबीर में प्रगल्भ उलटवासियों की कमी नहीं है। वे प्रत्यक्ष विरोधी और असम्भव बात सीधे-सादे ढंग से कहते हैं—

"बिटिया ने बाप जायो।"

अथवा

"बाँझ का पूत पिता बिन जाया।" इत्यादि

इस प्रकार कबीर के रहस्यवाद की अभिव्यक्ति में उलटवासियों ने बड़ा योग दिया है।

कबीर के रहस्यवाद की अभिव्यक्ति में अलङ्कारों का महत्त्व—अभिव्यक्ति को चमत्कारी और बल प्रदान करने में अलंकार बहुत अधिक सहायक होते हैं। भामह ने अलंकार की परिभाषा देते हुए लिखा है—

"वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचमलंकृति।"

अर्थात् शब्द और अर्थ का वैचित्र्य ही अलंकार है। वामन ने

'सौंदर्यमलङ्कारः' कहकर अभिव्यक्ति-सौंदर्य को ही अलकार कहा है। रुद्रट लिखता है 'अभिधान प्रकार विशेषा एव अलंकाराः' अर्थात् अभिव्यक्ति की विशेष प्रणालियाँ ही अलकार कहलाती है।

रूपक :—रहस्यवाद में अभिव्यक्तिमूलक चमत्कार भी पाया जाता है। यही कारण है कि रहस्यवादी कबीर ने अलकारो का भी आश्रय लिया है। उनके रूपक लोक-प्रसिद्ध है। विद्वत्समाज में जिस प्रकार कालिदास की उपमाएँ प्रसिद्ध है, उसी प्रकार कबीर के रूपक भी प्रसिद्ध है। रूपक उनके रहस्यवाद का सर्वस्व है। उनके रूपक विविध आधारो को लेकर खडे किये गए है। यहाँ पर उनके कुछ रूपको पर सक्षेप में सकेत कर देना अनुपयुक्त न होगा।

हठयौगिक रूपक —कबीर योगी सत थे। हर समय हठयोग का चर्चा और अभ्यास करने के कारण उनकी बुद्धि हठयौगिक रूपको की ओर अधिक जाती थी। यहाँ कुछ हठ यौगिक रूपको का उल्लेख कर देना आवश्यक है। एक प्रसिद्ध रूपक इस प्रकार है—

"बधचि बधनु पाइया।
मुकतै गुरि अनल बुझाइया॥
जब नख सिख यहु मन चीन्हा।
तब अन्तर मंजनु कीन्हा।
पवन पति उन्मनि रहनु खरा।
नहीं मिरतु न जनम जरा॥
उलटीले सकति सहारं।
पैसीले गगन मझारं॥
बेधी अले चक्र भुअगा।
भेटी अले राइ निसंगा॥
चुकी अले मोह मइ आसा।
ससि कीनो सूरगिरासा॥

बंक कुंभकु भरि पुरि लीणा ।
तहं बाजे अनहद बीणा ॥
वकतै बकि सबदु सुनाइया ।
सुनतै सुनि मनि बसाइआ ॥
करि करता उतरसि पार ।
कहै कबीरा सार ॥

इस पद में हठयोग का रूपक बांधा गया है इसे स्पष्ट करते हुए डा० रामकुमार वर्मा ने निम्नलिखित सांकेतिक सुलझाव दिए हैं—

पवन पति होना = प्राणायाम ।
प्रवृत्तियों को रोककर उलटना = प्रत्याहार ।
आकाश में गमन = ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश
चक्रवेध = षट् चक्रों की सिद्धि ।
भुजग को वशीभूत करना = कुण्डलिनी की साधना करना ।
एकाकी राजा का सत्संग = ब्रह्मानुभूति ।
चन्द्र द्वारा सूर्य का ग्रास = सहस्र दल कमल के चन्द्र की सुधा से मूलाधार चन्द्र के सूर्य के विष का शोषण ।
कुम्भक=प्राणायाम में सांस रोकना
अनहद बीणा=अनाहत नाद

कबीर में इस ढंग के हठयौगिक रूपक बहुत पाए जाते हैं । इनसे उनका हठयौगिक रहस्यवाद सम्पन्न है ।

प्रकृतिपरक रूपक—कबीर का जीवन प्रकृति की क्रोड में पला था । उनकी दृष्टि में प्रकृति परिव्याप्त हो गई थी । यही कारण है कि उनके अधिकांश रूपक प्रकृति के पदार्थों या स्वरूपों को लेकर खड़े किये गए हैं । आंधी का यह रूपक दृष्टव्य है—

"देखो भाई ज्ञान की, आई आँधी ।
सभै उड़ानी भ्रम की टाटी रहै न माइया बाँधी ॥
दुचिते की दुई थूनि गिरानी मोह बलेड़ा टूटा ।
तिसना छानि परी घर उपरि दुरमति भौड़ा फूटा ॥
आँधी पाछै जो जलु वरखै तिहि तेरा जनु भीना ।
कहि कबीर मन भाइआ प्रगासा उदै भानु जब चीना ॥"

इसमें आंधी का रूपक बाँधा गया है। इसमें क्रमश आँधी ज्ञान के के लिए, भ्रम के लिए, 'थूनी', द्विविधा के लिए, 'बलेडा', मोह के लिए, 'छानी', तृष्णा के लिए, 'भोडा' दुर्मति के लिए, 'जल' अनुभूति के लिए, प्रकाश सहज के लिए और भानु ईश्वरीय ज्योति के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

इसी ढग के और बहुत-से रूपक कबीर में पाए जाते है। समुद्र, सरोवर, वर्षा आदि रूपक तो उनमें स्थल-स्थल पर मिलते हैं।

प्रकृति के जीवो को लेकर भी कबीर ने अपने रूपक कल्पित किये हैं। सर्प या सर्पिणी के रूपक हरिण का रूपक हाथी के रूपक उनमें बहुत पाए जाते है।

पशु पक्षियो आदि से सम्बन्धित रूपक अधिकतर आकार में छोटे होते है। दो-एक रूपको के उदाहरणो से बात स्पष्ट हो जायगी। हरिण का रूपक देखिए—

"कबीर हरना दूबला यह हरिआरा तालु ।
लाख अहेरी एक जिउ, केता बंचउ कालु ॥"

इसी प्रकार सर्प का यह दूसरा रूपक देखिए—

"कबीर बिरह भुयगमु मन बसै मंतु न मानै कोई ।
नाम वियोगी न जीऔ-जीऔ ता बउरा होय ॥"

कबीर जो रूपक प्रतीको का आश्रय लेकर चले हैं वे जीव-जन्तुओ से सम्बन्धित होते हुए भी थोड़ा दीर्घकाय है। देखिए निम्न लिखित

प्रतीकात्मक रूपक दीर्घकाय होते हुए भी बहुत सफल कहा जायगा।

"सरपनी ते ऊपर नहिं बलीआ।
जिन ब्रह्मा विष्नु महादेव छलिया॥
मारु मारु सर्पनी निरमल जल पैठी।
जिनि त्रिभवणु उसी अले गुर प्रसादि दीठी॥"
"सपनी सपनी किया कहहु भाई।
जिन साचु पछानिआ तिनि सपनी खाई॥
सपनी ते आन छूछ नहिं अवरा।
सपनी जीती कहा करै जमरा॥"
"इह सपनी ता की कीती होई।
बलु अबलु किआ इस ते होई॥
इह बसती ता बसत सरीरा।
गुर परसादि सहजि तरे कबीरा॥"

वयन-व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक—कबीर जाति के जुलाहे थे। जुलाहे के घर में रहकर उन्होंने वयन-व्यवसाय का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। यही कारण है कि उनके रहस्यवाद में हमें जुलाहो की बातो को लेकर बांधे गए रूपको की भरमार मिलती है। इस प्रकार के रूपक वास्तव में बहुत कठिन हैं। इसका प्रमुख कारण है कि वयन-प्रक्रिया की जिन सूक्ष्माति सूक्ष्म बातो का वर्णन उन्होंने किया है उनसे साधारण समाज परिचित नही है। जुलाहे के निम्नलिखित छोटे-से रूपक में ही देखिए एकाध शब्द ऐसा आगया जिसका ज्ञान साधारण समाज को नही होता—

"कोरी को काहू मरमु न जाना।
सभुजग आनि तनाइओ ताना॥
जब तुम सुनि ले वेद पुराना।
तब हम इतन कु पसारिओ ताना॥

धरनि अकास की करगह बनाई।
चंद सुरज दुई साघ चलाई॥
ाई जोरि बात इक कीनी वह ताती मनु मानां।
ोलाहे घरु अपना चीन्हा घर ही राम पछानां॥
कहत कबीर कारगह तोरी।
सूतै सूत मिलाए कोरी॥"

इस सरल से रूपक को ही समझना कठिन हो जाता है इस कोटि के अन्य रूपक तो और भी कठिन हैं। इन रूपको में गूढ आध्यात्मिक सिद्धान्त प्रतिष्ठित किये गए हैं। अभिव्यक्ति की दुरूहता के कारण ही ये अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के अन्तर्गत आते हैं।

अरूप तत्त्वों के रूपक —कबीर ने अपने बहुत से रूपक अरूप तत्त्वो को लेकर कल्पित किये हैं। इस प्रकार के रूपको में माया का रूपक बहुत प्रसिद्ध है—

खसम मरै तऊ नारि न रोवै।
उप् रखवारा औरै होवै॥
रखवारे का होय विनास।
आगे नरक ईहा भोग विलास॥"[१]

इत्यादि।

कबीर ने बहुत-सी जीवन की स्थितियो और घटनाओ को लेकर भी अपने रूपक कल्पित किये है। जीवन की सबसे मनोरम परिस्थिति विवाह है। रहस्यवाद वास्तव में आत्मा और परमात्मा के विवाह की ही कहानी है। कबीर ने विवाह की परिस्थिति को लेकर बडे-बडे सुन्दर एव रहस्यपूर्ण रूपक बांधे। देखिए आत्मा और परमात्मा के मिलन की अवस्था का वर्णन विवाह के रूपक के सहारे कितने सुन्दर ढग से किया गया है—

१. देखिए राग गौडी ७ सन्त कबीर।

"दुलहनी गावहु मंगल चार।
हम घर आये हो राजो राम भरतार॥
तन रत करि मै मन रति करहुं पन्च तत बराती।
राम देव मोरे पाहुने आए मैं जोवन मद माती॥
सरीर सरोवर वेदी करि है ब्रह्मा वेद उचार।
राम देव संग भावरि लेहू धनि धनि भाग हमार॥
सुरतैतीस कौतिग आए मुनिश्वर सहस अठासी।
कहै कबीर हम व्याहि चले पुरिष एक अविनासी॥"

इतने सागरूपक की कल्पना करना कबीर-जैसे प्रतिभाशाली का ही काम है। वास्तव में कबीर रूपक योजना में बड़े निपुण थे। उनके रहस्य-वाद का सौंदर्य इन रूपको से बहुत बढ गया है।

अन्योक्तियाँ —रूपको के अतिरिक्त रहस्यवाद की अभिव्यक्ति में कबीर ने अन्योक्तियो का भी आश्रय लिया है रहस्य-भावना की अभि-व्यक्ति में अन्योक्तियो और समासोक्तियो का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता आया है। प्रस्तुत का वर्णन अप्रस्तुत के सहारे करना ही अन्यो-क्तियाँ है। कबीर का प्रमुख प्रतिपाद्य अध्यात्म ही रहा है। उन्होंने स्वय कहा भी है। *'लोग जाने' यह गीत है यह तो ब्रह्म विचारं।*

इस ब्रह्म-विचार की अभिव्यक्ति के लिए कबीर ने अन्योक्तियो को भी अपनाया था, किन्तु अन्योक्तियो को हम उनकी प्रिय अभिव्यञ्जना-प्रणाली नही कह सकते। उनमें शुद्ध अन्योक्तियो का अभाव है। उनकी अन्योक्तियाँ अधिकतर प्रतीकात्मक एव रूपकात्मक है। उदहरण के लिए हम निम्न लिखित पद दे सकते है—

"काहे री नलनी तू कुमिलानी।
तेरे ही नालि सरोवर पानी॥
जल में उतपत्ति जल में वास जल में नलनी तोर निवास॥
ना तलि तपति न ऊपरि आगि, तोर हेत कहु कासन लागि।

कहै कबीर जे उदिक समॉन, ते नहीं मुए हमारे जान ॥"

इस पद में प्रतीक-प्रधान अन्योक्ति की योजना की हुई जान पडती है। कबीर की अन्योक्तियाँ अधिकतर इसी ग की है। कबीर में ढूंढने से कुछ समासोक्तियां चाहे मिल जायें। किन्तु समासोक्ति उनका प्रिय अलकार नही था। अन्योक्तियो और समासोक्तियो के अतिरिक्त उनमें और भी बहुत अलकार मिलते है। किन्तु विरोधमूलक अलकारो को छोडकर, जिनकी चर्चा हम उलटवासियो के प्रसग में कर चुके है उनमें से किसी का रहस्यवाद से सम्बन्ध नही है। इसीलिए यहाँ पर उनका उल्लेख करना व्यर्थ है।

: ६ :

विशेषताएँ

यौगिकता—उपर्युक्त विवेचन से कबीर के रहस्यवाद का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अब हम उसकी कुछ सामान्य विशेषताओ पर विचार कर लेना चाहते है। कबीर के रहस्यवाद की सबसे प्रधान विशेषता उसकी यौगिकता है। कबीर के योगी ने उनके रहस्यवादी को बुरी तरह से दबोच रक्खा है। यही कारण है प्रणय-प्रधान भावात्मक रहस्यवाद भी उनके यौगिक वर्णनो से मुक्त नही हो सका है। देखिए उनका प्रेम-भगति हिंडोलना' भी पूर्ण यौगिक ही है—

"हिंडोलना तहँ झूलै आतमराम।
प्रेम भगति हिंडोलना सब संतनि को विश्राम॥
चन्द सूर दोइ खम्भवा बंक नालि की डोरि।
झूलैं पच पियारियाँ तहँ झूलै जिय मोर॥
द्वादस राम के अन्तरा तहँ अमृत को बास।
जिनि यह अमृत चाखिया सो ठाकुर हम दास॥
सहज सुनि को नेहरो गगन-मण्डल सिरमौर।
दोऊ कुल हम आगरी जो हम झूलें हिंडोल॥"[1]

इसी प्रकार देखिए मुग्धा नवोढा की मिलन की पूर्व की भावनाओ का वर्णन करते है किन्तु उनका पर्यवसान योग में कर देते है।

"थर हर कम्पै बाला जीव
न जाने क्या करसी पवी।

---

१ 'कबीर ग्रन्थावली', पृष्ठ ६४।

रैनि गई मति दिन भी जाय ॥"[१]

सर्वव्यापकता।—कवीर का रहस्यवाद वडा ही व्यापक और सर्वतोमुखी है। उसमें रहस्यवाद के सभी स्वरूप सभी प्रक्रियाएँ अपनी वहुलता में मिलती हैं। रहस्यवाद की अन्तर्मुखी और वहिर्मुखी प्रक्रियाओ का सकेत कवीर में ऊपर कई वार किया जा चुका है। यहाँ पर हम यह दिखला देना चाहते है कि कवीर में रहस्यवाद के सभी प्रकारो की झाँकी भी मिलती है। स्पर्जन नामक विद्वान् ने रहस्यवादियो के इन प्रमुख पाँच भेदो का उल्लेख किया है —

(1) Love mystics
अर्थात प्रेमवादी रहस्यवादी।

(2) Beauty mystics.
सौन्दर्यवादी रहस्यवादी।

(3) Nature mystics
प्रकृतिवादी रहस्यवादी।

(4) Philosophical mystics
दार्शनिक रहस्यवादी।

(5) Devotional or Religious mystics
भक्त और धार्मिक रहस्यवादी।

प्रेमवादी रहस्यवादी कवियो में अग्रेज कवि शेली और ब्राउनिग वहुत प्रसिद्ध हैं। इन प्रेमवादियो का लक्ष्य प्रेम के सहारे आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य स्थिर करना है। स्पर्जन ने प्रेमवादियो में प्रेम की मान्यता के सम्वन्ध मे यही वात लिखी है—

"They look upon love as the solution of the mystery of life, as the link between god and man"

१. स० क०, पृष्ठ १४८।

अर्थात् प्रेमवादी रहस्यवादी प्रेम को जीवन की रहस्यात्मकता का सुलझाव समझते हैं। दूसरे शब्दों में उनके मतानुसार आत्मा और परमात्मा को मिलाने वाला तत्त्व प्रेम होता है। कबीर प्रेमवादी रहस्यवादियों के सदृश्य प्रेम को ही प्रियतम से मिलाने वाला तत्त्व मानते थे। यह प्रेम तत्त्व उन्हें गुरु-मन्त्र के रूप में मिला था—

'गुरु ने प्रेम का अक पढ़ाय दिया रे"

इस प्रेम ने कबीर की आत्मा पवित्र कर दी थी—

"कबीर बादल प्रेम का हम पर बरस्या आय।
अतरि भीगी आत्मा हरी भई वनराय॥"

कबीर ने प्रेम-सम्बन्ध को लेकर बड़े मनोरम चित्र खीचे हैं। इनका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। यहाँ प्रकारण विस्तार नही करना चाहते।

प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यवादी प्रकृति में रहस्यानुभूति करता है। अंग्रेजी कवि बायरन और वर्ड्सवर्थ ऐसे ही रहस्यवादी थे। कबीर की बहुत-सी रचनाएँ प्रकृतिपरक रहस्यवाद के अन्तर्गत आती हैं। उनका यह प्रकृतिपरक रहस्यवाद दो प्रकार का है। एक तो वह, जिनमें उन्होंने प्रकृति का प्रयोग रूपको के अन्तर्गत किया है, दूसरे वह जहाँ प्रकृति संदेश-वाहक के रूप में दिखाई पड़ती है। उनके आँधी आदि के रूपक प्रथम कोटि के हैं। द्वितीय कोटि का छोटा-सा उदाहरण इस प्रकार है—

"माली आवत देखकर कलियाँ करी पुकार।
फूली फूली चुन लई काल्हि हमारी बार॥"

इतना स्वीकार करने में हमें सकोच नही है कि कबीर ने प्रकृति का प्रयोग बहुत कम किया है और जहाँ कही किया भी है वहाँ वह प्रतीक के रूप मे अधिक है। मानवीकरण के रूप में भी कबीर ने प्रकृति परक रहस्यवाद को अछूता नहीं छोडा है।

कबीर प्रधान रूप से दार्शनिक रहस्यवादी मालूम पड़ते है। दार्शनिक रहस्यवादी की सारी विशेषताएँ उनमे मिलती है। दार्शनिक रहस्य-

वादी के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए स्पर्जन ने लिखा, है:—

"The mystical sense may be called philosophical in all those writers. Who present their convictions in a philosophic form calculated to appeal to the intellect as well as to the emotions. These writers as a rule, though not always, are themselves markedly intellectual, and their primary concern therefore is with truth".

अर्थात् रहस्य-भावना, दार्शनिक तब कही जायगी जब ये लेखक अपनी धारणाएँ इस ढग से सामने रखते हैं कि वह बुद्धि और भावना दोनो को समान रूप से प्रभावित करे। ऐसे लेखक अधिकतर प्रत्यक्ष रूप से बुद्धिवादी होते हैं और उनका मूल सम्बन्ध सत्य से होता है। महात्मा कबीर की अधिकाश उक्तियाँ उपर्युक्त कथन की सत्यता प्रमाणित करती है। दो-एक उदाहरणो का फिर पिष्टपेषण किये देते हैं। एक लोक-प्रसिद्ध उदाहरण यह है—

"लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥"

दूसरा बहुत प्रसिद्ध उदाहरण है—

"जल में कुम्भ कुम्भ में जल है,
बाहर भीतरि पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना,
यह तत कथ्यौ गियानी॥
आदे गगना अन्ते गगना मध्ये गगना भाई।
कहै कबीर करम किस लागे, झूठी सक उपाई॥"

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर में दार्शनिक रहस्यवाद की भी अच्छी झाँकी मिलती है।

चौथी कोटि धार्मिक रहस्यवादियो की होती है। जैसा कि स्पर्जन ने लिखा है। रहस्यवादी सभी धार्मिक होते है, किन्तु धार्मिक रहस्यवादी उसे कहेंगे जो किसी धार्मिक पद्धति की ओर बहुत अधिक झुका हुआ हो। कबीर अपनी कुछ रचनाओ के प्रकाश में धार्मिक रहस्यवादी भी मालूम पडते हैं। उनका वैष्णव धर्म और वैष्णवी भक्ति की ओर बहुत अधिक झुकाव था। *'मेरे सगी दुइ जना एक वैष्णो एक राम'* कहकर उन्होने यही बात प्रकट की है। उनके धार्मिक रहस्यवाद में उनका भक्तस्वरूप प्रधान हो गया है, दार्शनिक और योगी-स्वरूप गौण।' उनके धार्मिक रहस्यवाद के सैकडो उदाहरण उनकी रचनाओ में ढूँढे जा सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर को हम किसी भी कोटि में नही बाँध सकते। उन्होने रहस्य-भावना की सभी सीमाओ को, सभी मार्गों को, सभी प्रणालियो के छूने का प्रयत्न किया था। यदि हम कोटिबद्ध करना ही चाहें तो प्रेममूलक योगी, भक्त दार्शनिक रहस्यवादी कह सकते है। इतना कहने से भी उनके स्वरूप की समष्टिमूलकता प्रकट होती है। उनकी इस समष्टिमूलकता का मूल कारण यह था कि उनके व्यक्तित्व में सब कुछ आत्मसात् करने की विचित्र शक्ति थी।

कबीर का रहस्यवाद सूफी रहस्यवादी कवियो की अपेक्षा कही अधिक भारतीय है। हम प्रणय-भाव का विवेचन करते समय उनकी मर्यादाप्रियता की ओर सकेत कर चुके हैं। भारतीय अद्वैतवाद को तो उन्होने ज्यो-का-त्यो स्वीकार कर लिया था। किन्तु उसकी अभिव्यक्ति उन्होने अपने ढग पर की है, इसलिए वह मौलिक प्रतीत होता है। भारतीय आदर्शों को कबीर ने बडे उत्साह के साथ ग्रहण किया था। उनके रहस्यवादी प्रेम-भाव का आदर्श भारतीय सती और भारतीय सूर है। कबीर ने भारतीय अध्यात्मवाद के अनुसार ही माया की मान्यता स्वीकार की। उन्होने सूफियो की भाँति कही भी रहस्यानुभूति या प्रियतम-मिलन में शैतान को बाधक नहीं माना है।

३ *व्यष्टिमूलकता* —कबीर का रहस्यवाद व्यष्टिमूलक और वैयक्तिक है। वह वास्तव में कबीर की चिन्तनामूलक स्वानुभूति का परिणाम है। कबीर के रहस्यवाद में समाज के प्रति सहानुभूति की भावना भी पाई जाती है। उनकी इस सहानुभूति ने ही उनके रहस्यवादी व्यक्तित्व को लोक-सग्राहक भी बना दिया है। अपनी इन्ही विशेषताओ के कारण उनका रहस्यवाद इतना प्रभावपूर्ण और भावमय प्रतीत होता है। वास्तव में वे हमारी भाषा के अप्रतिम रहस्यवादी कवि है। उनका रहस्यवाद हिन्दी-साहित्य के लिए अनुपम देन है।

व्यष्टिमूलक होते हुए भी कबीर का रहस्यवाद निष्क्रिय और निर्जीव नही था। वह एकान्तिक भी नही कहा जा सकता। उसमें मानव को मानवता की प्रेरणा देने की विचित्र क्षमता थी। उसमें निर्जीवो में नवप्राण सचार करने का अलौकिक गुण था। इसने भारत का बहुत बडा उपकार किया । मूर्छित मध्य युग के लिए वह सच्ची सञ्जीवनी था।

जायसी का रहस्यवाद

: ९ :

जायसी का आध्यात्मिक रहस्यवाद

सामान्य परिचय—जायसी हिन्दी-साहित्य के श्रेष्ठ रहस्यवादी कवि हैं। भारतीय रहस्यवाद तथा फारसी रहस्य-भावना के सुन्दर सुहाग से उद्भूत जायसी का रहस्यवाद हिन्दी-साहित्य के लिए महाकवि की महान देन है। भारत में रहस्यवाद की दो प्रमुख धाराएँ दिखाई पड़ती है। एक उपनिषद् के रहस्यवाद की, और दूसरी यौगिक रहस्यवाद की। जायसी का रहस्यवाद भारतीय रहस्यवाद की इन दोनो धाराओ से प्रभावित है। औपनिषदिक रहस्यवाद की सबसे प्रधान विशेषता उसकी अध्यात्म-प्रधानता है। उपनिषद् वेद के ज्ञान-काण्ड का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारतीय मनीषी विचारक होने के साथ-साथ परम भावुक भी थे। यदि भावुक न होते तो आदिकवि की वाणी काव्य के रूप में मुखरित कैसे होती ? उपनिषदो के द्रष्टा भी विचारक और भावुक दोनो ही थे। यही कारण है कि उपनिषदों में शुष्क दार्शनिक विवेचनो के साथ-साथ मधुर भावात्मक रहस्यवाद भी पाया जाता है औपनिषदिक रहस्यवाद की सबसे प्रमुख विशेषताएँ दो है—एक तो अध्यात्म का भावात्मक निरूपण दूसरे अद्वैतवाद का भावात्मक प्रस्थापन। जायसी में हमें अध्यात्म का भावात्मक निरूपण भी मिलता है और अद्वैतवाद का भावात्मक प्रस्थापन भी। इनका वर्णन हम आगे करेंगे। यहाँ पर इतना ही संकेत करना आवश्यक है कि जायसी के रहस्यवाद को समझने के लिए उपनिषदो के रहस्यवाद को भी ध्यान में रखना चाहिए।

औपनिषदिक रहस्यवाद के अतिरिक्त भारतवर्ष में यौगिक रहस्य-

वाद की भी एक धारा पाई जाती है। वेदों से लेकर निर्गुणियों संतों तक उसकी परम्परा अविच्छिन्न रूप से प्रवर्तित रही है। जायसी के समय में नाथपंथी योग की बड़ी प्रतिष्ठा थी। स्थान-स्थान पर नाथ-पंथी सिद्ध पाए जाते थे। जायसी भी नाथपंथी योगसिद्धों में विश्वास करते थे, यह बात उनकी एक मृत्यु-सम्बन्धी किम्वदन्ती से प्रकट होती है। कहते हैं कि जायसी वन में योग-बल से सिंह का रूप धारण करके विचरण करते थे। एक बार एक राजा ने धोखे से उन्हें सिंह समझ कर मार दिया। बाद को उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। जो भी हो, यह निर्विवाद है कि जायसी पर योग का बहुत अधिक प्रभाव था। योग के साथ-साथ वे यौगिक रहस्यवाद से भी प्रभावित थे। उनके यौगिक रहस्यवाद के विश्लेषण से बात स्पष्ट हो जायगी।

भारतीय रहस्यवाद की उपर्युक्त धाराओं से प्रभावित होते हुए भी जायसी एक सच्चे बा-शरा सूफी थे; अतएव उनके रहस्यवाद का सूफी रहस्यवाद से अत्यधिक प्रभावित होना अत्यन्त स्वाभाविक था। हमारी समझ से उनका रहस्यवाद सूफी रहस्यवाद का भारतीय रूपान्तर है।[१]

जायसी के रहस्यवाद के प्रकार—जायसी का रहस्यवाद पञ्चमुखी है। किन्तु फिर भी उनमें एक विचित्र सामञ्जस्य और सुषमा दिखाई पड़ती है। इस सामञ्जस्य और सुषमा ने उनके रहस्यवाद का सौन्दर्य बहुत बढ़ा दिया है। हम उसके पाँचों प्रकारों पर प्रकाश डालते हुए उनमें पाई जाने वाली सुषमा और सामञ्जस्य का भी संकेत करेंगे। जायसी के पाँच प्रकार के रहस्यवाद इस प्रकार हैं—

(१) आध्यात्मिक रहस्यवाद।
(२) प्रकृतिमूलक रहस्यवाद।
(३) प्रेममूलक रहस्यवाद।
(४) यौगिक रहस्यवाद।

१. देखिये इस पुस्तक की भूमिका।

(५) अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद।

जायसी सूफी संत और साधक थे। संतो में आध्यात्मिकता कूट-कूट-कर भरी रहती है। उनकी इस अध्यात्मप्रियता का विकास उनकी रचनाओं में दार्शनिक विचारो के रूप में हुआ करता है। इन दार्शनिक विचारो की अभिव्यक्ति जब भावना के सहारे की जाती है तभी आध्यात्मिक रहस्यवाद का उदय होता है। आध्यात्मिक रहस्यवादी के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए स्पर्जन ने लिखा है—

"The mystical sense may be called philosophical in all these writers who present their convictions in a philosophical form calculated to appeal to the intellect as well as to the emotion"

अर्थात् जब रहस्यवादी अपनी धारणा इस प्रकार व्यक्त करता है कि यह बुद्धि और भाव दोनो ही का आनन्द-विधान करती है तब उसे आध्यात्मिक रहस्यवाद कहते है। जायसी का आध्यात्मिक रहस्यवाद उन्हे किसी भी श्रेष्ठ आध्यात्मिक रहस्यवादी के समकक्ष स्थान दिला सकता है। इसकी अभिव्यक्ति दो प्रकार से हुई है (क) कथामूलक अन्योक्ति शैली में, और (ख) कथामूलक समासोक्ति शैली में।

कथात्मक अन्योक्ति शैली में अभिव्यक्त आध्यात्मिक रहस्यवाद

आध्यात्मिक तथ्यो की अभिव्यक्ति के लिए कवि लोग विविध शैलियो की योजना करते आए है। इन शैलियो में कथात्मक अन्योक्ति शैली बडी महत्त्वपूर्ण है। अंग्रेजी के कवि टेनिसन ने अपनी अमर रचना मारटेडि आर्थर का प्रणयन इसी शैली में किया है। संस्कृत का प्रसिद्ध नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' भी इसी शैली में लिखा हुआ है। हिन्दी का अमर काव्य 'कामायनी' भी इसी शैली में रचा गया है। 'पद्मावत' की

रचना भी इसी शैली में हुई है। 'पद्मावत' के प्रणेता जायसी ने ग्रंथ के अन्त में स्पष्ट घोषित किया है कि उनकी रचना एक कथात्मक अन्योक्ति है। वे लिखते हैं—

"मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा।
कहा कि हम्ह किछु और न सूझा॥
चौदह भुवन जो तर उपराहीं।
ते सब मानुष के घट माहीं॥
तन चित उर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंहल बुधि पद्मिनि चीन्हा॥
गुरु सूआ जेहि पंथ दिखावा।
बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धन्धा।
बाचा सोइ न जो एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू।
माया अलाउदीन सुलतानू॥
प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु।
बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥'

इस अन्योक्ति की सांकेतिकता को यदि स्पष्ट करना चाहें तो इस प्रकार कर सकते हैं—

पद्मावती = बुद्धि
रत्नसेन = मन
सिंहल = हृदय
चित्तौड़ = तन
नागमती = दुनिया धन्धा
अलाउद्दीन = माया
राघवचेतन = शैतान

हीरामन—गुरु

अन्योक्ति के तीन पक्ष :—अन्योक्ति के उपर्युक्त सुलझाव पर यदि मनोयोग पूर्वक विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि उनकी सम्पूर्ण अन्योक्ति एक मनोवैज्ञानिक एव आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर खडी हुई है। यह आध्यात्मिक पृष्ठभूमि जायसी द्वारा प्रतिपादित नही है। इसका प्रतिपादन पण्डितो ने किया था उन्होके अनुसरण पर जायसी ने उसका उल्लेख कर दिया है—

"मैं एहि अरथ पण्डितन्ह बूझा।
कहा कि हम किछु और न सूझा॥"

जायसी वास्तव में बडे चतुर थे। वे अपनी कथा का हिन्दू जनता में प्रचार करना चाहते थे। इसके लिए पण्डितो के सर्टीफिकेट की बडी आवश्यकता थी। कथा के अन्त में उन्होंने अन्योक्ति के रूप में वही सर्टीफिकेट जोड दिया है। जिस कथा की आध्यात्मिकता की प्रशसा पण्डितो ने की थी उसका भला अध्यात्म-प्रिय हिन्दू जनता में सम्यक् प्रचार क्यो न होता। हुआ भी ऐसा ही। हिन्दुओ की भाषा में लिखी गई हिन्दुओं की कथा, जिसके आध्यात्मिक महत्त्व को पण्डितो तक ने स्वीकार किया था, हिन्दू जनता में बहुत अधिक प्रचलित हुई। अब विचारणीय बात यह है कि जायसी अपनी कथा का हिन्दू जनता में इतना अधिक प्रचार करने के लिए क्यो लालायित थे। हमारी समझ में उनका मूल लक्ष्य हिन्दू जनता में इस्लाम और सूफी मत के सिद्धान्तो का पूर्ण प्रचार करना था किन्तु वे प्रत्यक्ष ऐसा नही कर सकते थे। प्रत्यक्ष रूप से यदि वे अपने लक्ष्य का सकेत करते तो हिन्दू समाज धोके से भी उनकी कथा को पढने का प्रयत्न न करता। इसीलिए उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से अपनी कथा का हिन्दू वाना पहनाना पडा है, किन्तु उसको प्राण स्लामिक भी और सूफी ही है। यही कारण है कि उनकी अन्योक्ति का उपर्युक्त सुलझाव केवल दिखावटी है। उसका प्रमुख सुलझाव सूफी साधना परक मालूम पडता है। इसका विवे-

चन आगे किया जायगा। इस प्रकार जायसी की अन्योक्ति के तीन पक्ष दिखाई पड़ते हैं —

प्रस्तुत प्रत्यक्ष पक्ष —पण्डितो द्वारा दिया गया अर्थ

प्रस्तुत अप्रत्यक्ष पक्ष—सूफी साधना परक अर्थ

अप्रस्तुत पक्ष—कथा पक्ष

इन तीनो पक्षों का सामञ्जस्य स्थापित करना बड़े से बड़े कलाकार के लिए असम्भव-सा है। ऐसा स्वाभाविक है कि कवि कभी एक ही पक्ष में उलझ जाय और अन्य दो पक्षो की याद भी न रहे। ऐसा होने पर अन्योक्ति का क्रम भंग हो सकता है। जायसी इस दोष से नही बच सके है। वे कभी-कभी कथा पक्ष में इतना अधिक रम गए है कि प्रस्तुत आध्यात्मिक पक्ष को बिलकुल ही भूल गए है। जब उन्हें होश आया तो फिर आध्यात्मिक पक्ष का संकेत करने लगे।' इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी कथात्मक अन्योक्ति' बीच-बीच में भंग हो गई और समासोक्ति का समावेश हो गया। इतना होते हुए भी हम यह नहीं कह सकते कि जायसी की कथा अन्योक्ति ही नही रह गई है। वास्तव में वह अन्योक्ति ही है और अनेक दृष्टियो से सफल भी है। कथात्मक अन्योक्ति का निर्वाह वृहत प्रबन्ध काव्य की पक्ति-पक्ति में कोई भी कवि नही कर सकता है यदि जायसी ऐसा नही कर सके तो इसके कारण जायसी का महत्त्व कम नही हो सकता। वास्तव में कथात्मक अन्योक्ति की सफलता उसकी प्रतीकात्मक के समष्टिमूलक निर्वाह पर समझी जानी चाहिए। इस दृष्टि से हम पद्मावत की अन्योक्ति को सफल-अन्योक्ति मान सकते हैं। 'पद्मावत' में प्रतीकात्मकता का समष्टिमूल निर्वाह मिलता है। आगे के विवेचन से बात स्पष्ट हो जायगी।

जायसी की अन्योक्ति का प्रत्यक्ष पक्ष

जायसी की अन्योक्ति का प्रत्यक्ष पक्ष भारतीय है। जायसी ने स्पष्ट कहा है कि वे पण्डितो के पीछे लगे हैं और उन्होंने उन्ही पण्डितो के अनु-

करण पर अपनी कथा की अन्योक्ति बाँधी है। पण्डित लोगो में सबसे अधिक मान्यता गीता की रही है। गीता के अतिरिक्त उनमें राजयोग साधना की भी अच्छी प्रतिष्ठा पाई जाती है। विराट् ब्रह्मवाद वैदिक धर्म का प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है। जायसी की अन्योक्ति का प्रत्यक्ष पक्ष इन सबसे प्रभावित है।

जायसी की अन्योक्ति और गीता का बुद्धियोग—जायसी ने अपनी अन्योक्ति को स्पष्ट करते हुए राजा को मन और पद्मावती को बुद्धि कहा है। मेरी समझ में ऐसा लिखते समय वे गीता के बुद्धियोग तथा नाथ पंथियो की मन-साधना और बुद्धिवादी दार्शनिक तीनो से ही प्रभावित थे। गीता के द्वितीय अध्याय में बुद्धि योग की प्रतिष्ठा मिलती है। इस बुद्धि योग की प्राणभूत विशेपता समत्व योग है। भगवान् कहते हैं—

"योगस्थः कुरु कर्माणि संग त्यक्त्वा धनंजयः।
सिद्ध्यासिद्ध्यो. समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥"

अर्थात् हे धनञ्जय, आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित हुआ तू कर्मों को कर। समत्व भाव ही बुद्धियोग के नाम से प्रसिद्ध है। इसी समत्व-बुद्धि योग से अमृतमय परम पद प्राप्त हो सकता है—

"कर्मज बुद्धि युक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्म.बन्ध विनिर्मुक्ताः पदंगच्छन्त्यनामयम् ॥"

अर्थात् बुद्धियोगयुक्त ज्ञानी जन कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्यागकर जन्म रूप बन्धन से छूटे हुए निर्दोष अर्थात् अमृतमय परम पद को प्राप्त होते है। किन्तु इस समत्व-बुद्धियोग को प्राप्त करने के लिए इन्द्रियो का सयम परमावश्यक है—

"यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥"

अर्थात् जैसे कछुआ अपने अगो को समेट लेता है वैसे ही यह पुरुष

सब ओर से अपनी इन्द्रियो को विषयो से समेट लेता है। तब उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। किन्तु इन्द्रियो का सयम ही बडा कठिन है, क्योकि इन्द्रियो का स्वामी मन बडा चचल है। इन्द्रियो को किसी प्रकार वश में भी कर लिया जाय तो इस मन को वश में करना बडा कठिन है। तभी तो अर्जुन को भगवान् से कहना पडा था—

'चचलं हि मन कृष्ण प्रमाथीति बलवद्दृढम् ।'

इस पर भगवान् मन को वश में करने का उपाय बताते है—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।'

अर्थात् हे अर्जुन, मन अभ्यास और वैराग्य से सयमित किया जा सकता है। बिना मन को सयमित किये बुद्धियोग नही प्राप्त हो सकता और बिना बुद्धियोग के आत्म दर्शन नही हो सकता क्योकि मन के परे बुद्धि है और बुद्धि से परे आत्मा है—

"इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य. परं मन. ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्या बुद्धे. परतस्तुसः ॥"

अर्थात् शरीर से इन्द्रियाँ बलवान् होती है, इन्द्रियो से मॅन, मॅन सें बुद्धि और बुद्धि से भी परे आत्मा है। यही बुद्धि से ही जो पर रूप आत्मा है वही ज्ञातव्य है।

जायसी पर गीता के इस बुद्धि योग का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। जायसी ने गीता में वर्णित मन और बुद्धि का महत्त्व स्वीकार किया है। इसीके फलस्वरूप उन्होंने मन को साधक और समत्व बुद्धि को साध्य रूप ध्वनित किया है। उनकी दृष्टि बुद्धि से परे नहीं जा सकी। किन्तु जैसा कि हम आगे देखेंगे उनकी बुद्धि ब्रह्म का ही पर्याय प्रतीत होती है। मेरी समझ में अपने इस मतवाद के लिए वे उन मुसलमान दार्शनिको से प्रभावित हुए है जो बुद्धि को ही ब्रह्म मानते थे।

जायसी की अन्योक्ति तथा बुद्धिवादी मुसलमान दार्शनिक—हमें मुसलमानो में भी दार्शनिक मत-मतान्तर मिलते है। शुशुश्री ने 'Out-

lines of Islamic Culture' में इनका उल्लेख किया है।

इन बुद्धिवादी दार्शनिको में किडी जाति के यूसुफ याकूब साहब का सिद्धान्त विचारणीय है। यह आठवी शताब्दी के अन्त में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने कुल मिलाकर २६३ ग्रथ लिखे थे। इनके ऊपर एरिस्टाटिल के सिद्धान्तो का बहुत अधिक प्रभाव पडा था। उनके आत्मतत्त्व सम्बन्धी सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए 'Outlines of Islamic Culture' में M. A Shushtery साहब ने लिखा है।

"The individual soul is a pure intellectual substance, immaterial and imperishable having its sense in the world of in intelligence from where it descends in the world if sense".

अर्थात् "आत्मा शुद्ध बुद्धितत्त्व की बनी है, जो अभौतिक और अव्यय है। इसका मूल बुद्धि लोक है, वहाँ से यह इस दृश्य जगत् में अवतरित होती है।" इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि आत्मा का मूल कारण बुद्धि स्वरूपी ब्रह्म तत्त्व है। वह इस ससार में आकर ऐन्द्रिक हो जाती है। इन्द्रियो का स्वामी मन है। कोई आश्चर्य नही कि जायसी को इस प्रकार के मुसलमान दार्शनिको में बुद्धिवादी सिद्धान्तो से प्रेरणा मिली हो। कुछ निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता है। मेरी अपनी धारणा यह है कि जायसी के ऊपर गीता के समत्व बुद्धियोग का ही प्रभाव विशेप था। उसीसे प्रेरित होकर उन्होने पद्मावती को बुद्धि का प्रतीक कहा है और उसके लिए पडितो की दुहाई दी है।

जायसी की अन्योक्ति और योग की मन-साधना—पद्मावत की अन्योक्ति मन-साधना से भी प्रभावित प्रतीत होती है। मन-साधना को योग ग्रन्थो में भी बहुत महत्त्व दिया गया है। 'अमृत विन्दूपनिपद्' में लिखा है—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो।
बन्धाय विपयासक्तं मुक्त्यै निर्विपयंस्मृतम्॥"

तब अर्थात् मन ही मनुष्यों के बन्धन-मोक्ष का कारण है। जब मन विषयासक्त होता है तब वह बन्धन में बँध जाता है। विषय से विरक्त होकर वही मुक्ति का हेतु बन जाता है। इसी से मन साधना का महत्व 'क्षुरिकोपनिषद्' में भी प्रतिपादित किया गया है —

"मनसस्तु परं गुह्य सुतीक्ष्णं बुद्धि निर्मलम्।
पादस्योपरि यन्मध्ये तद्रूपं नाम चिन्तयेत्॥
मनोद्वारेण तीक्ष्णेन योगमाश्रित्य नित्यशः॥"

'तेजबिन्दूपनिषद्' 'मन-साधना' में मन को ही सर्वानर्थ हेतु कहा गया है —

"काम क्रोध बन्धनं सर्वं दुःख विश्व दोष काल नाना स्वरूपम्।
यत्किंचिद् मनः संकल्प जालं तत्किंचिदं मानस सोम्य विद्धि॥"

इस मन का जब लय हो जाता है तभी परम पद की प्राप्ति हो जाती है—

"यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टि स्थित व्यसन कर्मकृत।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्॥"[1]

मन-साधना का महत्व लययोग और नाथपंथ दोनों में ही बड़े विस्तार से प्रतिपादित किया गया है। लय योगीय मन-साधना के महत्त्व का संकेत हम अभी 'मण्डल ब्राह्मणोपनिषद्' के उद्धरण के सहारे कर चुके हैं। 'हठ-योग प्रदीपिका' में इसका थोड़ा विस्तार से विवेचन किया गया है। विषय-विस्तार-भय से हम उनका वर्णन नहीं कर रहे हैं। यहाँ पर हम नाथ-पंथ में मन-साधना पर जो बल दिया गया है उसका भी थोड़ा संकेत कर देना चाहते हैं। नाथ पंथ के प्रमुख आचार्य गोरखनाथ माने गए हैं। उन्होंने मन-साधना को कितना अधिक महत्त्व दिया है, यह बात उनकी निम्नलिखित पंक्ति से प्रकट है। इसमें उन्होंने मन को शिव और शक्ति रूप कहकर उसकी साधना की अनिवार्यता ध्वनित की है—

---

१. मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् ४।५

"यह मन सकती यह मन सीऊ।
यहु मन पञ्चतत्व का जीऊ ॥"

जायसी गोरख के इस सिद्धान्त से इतना अधिक प्रभावित हुए कि उन्होने उनकी उपर्युक्त पक्तियो को थोडा हेर-फेर के साथ दुहरा दिया—

"गजपति यहु मन सक्ती यहु मन सीऊ।"

गोरख के इसी प्रभाव के फलस्वरूप उन्होने मन को साधक रूप कहा है। उन्हे गीता के बुद्धियोग से भी थोडी प्रेरणा मिली होगी, ऐसी मेरी धारणा है। इस धारणा का स्पष्टीकरण हम अभी उपर कर ही चुके है। वे जानते थे कि मन का लय जब तक न हो तब तक परमपद की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिए सम्भवत उन्होने रत्नसेन को मन का और पद्मावती को बुद्धि का प्रतीक माना है। हो सकता है कि मुसलमान साधको के 'बुद्धि ही ब्रह्म है', वाले सिद्धान्त से प्रभावित होकर उन्होने पद्मावती को ब्रह्म रूप मानना प्रारम्भ कर दिया हो।

उनके ऊपर वैदिक धर्म की विराट् ब्रह्म वाली धारणा का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। रहस्याभिव्यक्ति के लिए इस प्रकार का धारणा का अपनाया जाना आवश्यक भी था। सम्भवत यही कारण है कि जायसी ने समत्व बुद्धिरूपी पद्मावती को विराट् ब्रह्म के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है।

जायसी की अन्योक्ति में कथित साधक की सार्थकता—अभी हम कह चुके है कि जायसी ने साधक रत्नसेन को मन का प्रतीक माना है। अब हम उनके इस प्रतीक की सार्थकता पर थोडा-सा विचार कर लेना चाहते है। हमारी समझ में जायसी ने अपने इस प्रतीक को निभाने की पूरी चेष्टा की है। रत्नसेन के चरित्र की कुछ प्रमुख विशेषताएँ है। सबसे प्रमुख विशेषता आसक्ति की तीव्रता है, जब तक वह नागमती में आसक्त रहता है तब तक वह पूर्ण रूप से उसके ही प्रेम में लीन रहता है। किन्तु जब पद्मावती की ओर उन्मुख होता तो फिर उसमें

उसकी पूर्ण आसक्ति हो जाती है। आसक्ति की तीव्रता मन की भी प्रमुख विशेषता है। जब मन इस आसक्ति या ऐन्द्रिय संसार और उसकी सांसारिकता रहती है तब तक वह सांसारिक एवं अशुद्ध रहता है, किन्तु ज्यों ही उसकी आसक्ति समत्व बुद्धि के प्रति होने लगती है, संसार से उदासीन होने लगता है तब वह पूर्ण शुद्ध हो जाता है। 'अमृत बिन्दूपनिषद्' में मन के ये ही दो भेद बतलाए गए हैं —

"मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं काम संकल्पं शुद्धं काम विवर्जितम्॥"

मन के यह दोनों ही स्वरूप हमें जायसी में नायक रत्नसेन के जीवन में घटित होते दिखाई पड़ते हैं। नागमती को कवि ने 'दुनिया का धंधा' कहा है। जब तक रत्नसेन इसमें फंसा रहता है तब तक उसका जीवन पूर्ण सांसारिक बना रहता है। उसके जीवन का यह सांसारिक पक्ष अशुद्ध मन का प्रतीक माना जा सकता है। किन्तु जब रत्नसेन नागमती से उदासीन होकर पद्मावती रूपी समत्व बुद्धि को अपनाने चल देता है, तभी से वह शुद्ध मन का प्रतिरूप प्रतीत होने लगता है।

मन की एक सबसे प्रधान विशेषता यह है कि वह बार-बार प्रबोधित किये जाने पर भी माया के भ्रम-जाल में फंस जाता है। रत्नसेन के चरित्र में भी जायसी ने यह विशेषता चित्रित की है। बादल रूपी ज्ञान के बार-बार चेताने पर भी यह रत्नसेन रूपी मन अलाउद्दीन रूपी माया के भ्रम-जाल में फंस जाता है।

मन सब प्रकार से समझदार होते हुए भी जरा-सी प्रेरणा पाकर एकदम आवेश में आ जाता है। फिर उसे उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं रहता। जायसी ने रत्नसेन के चरित्र को भी ऐसा ही चित्रित किया है। रत्नसेन दिल्ली से किसी प्रकार मुक्त होने पर जब चित्तौड़ को आता है तो देवपाल का वृत्तान्त सुनकर परिणाम को बिना सोचे हुए ही वह

देवपाल पर आक्रमण कर देता है। बिना विचारे हुए किये कार्य का परिणाम अच्छा नही होता। वह मृत्यु का शिकार बन जाता है। इस प्रकार कवि ने रतनसेन के चरित्र का साम्य मन की विशेषताओ से बैठालने की पूरी चेष्टा की है। अतएव रतनसेन को मन का प्रतीक मानना उचित ही है।

जायसी की अन्योक्ति का साध्य पक्ष—अब हम जायसी की अन्योक्ति के साध्य पक्ष पर विचार कर लेना चाहते है। उन्होने पद्मावती को, जो बुद्धि का प्रतीक है, साध्य माना है। उसकी यह प्रतीक-कल्पना गीता के समत्व बुद्धि योग, वेद के विराट् ब्रह्मवाद, मुसलमानो के बुद्धि ही ब्रह्म है वाले सिद्धान्त तथा योगियो के बुद्धिलय योग से प्रभावित है। उन्होने पद्मावती को केवल समत्व बुद्धि के रूप में ही नही वरन् विराट् ब्रह्म के रूप में भी चित्रित किया है। वास्तव में वे समत्व बुद्धि को विराट् ब्रह्म का प्रतिरूप ही मानते थे। इसीलिए कथा में जहाँ कही भी पद्मावती के आध्यात्मिक पक्ष की ओर सकेत किया है वहाँ समत्वबुद्धि रूपी विराट् ब्रह्म का ही भाव अभिव्यञ्जित होता है। हमारी समझ में वे समत्व बुद्धि और विराट् ब्रह्म के भेद को नही समझते थे। गीता के अनुकरण पर उन्होने पद्मावती को समत्व बुद्धि का प्रतीक कह दिया है तथा वेद और गीता के रहस्यपूर्ण विराट् ब्रह्म के वर्णनो के आधार पर उन्होने उसे विराट् ब्रह्म रूप में भी चित्रित किया है। पद्मावती के कुछ अध्यात्म परक वर्णनो के विश्लेषण से उपर्युक्त बात स्पष्ट हो जायगी। एक बहुत प्रसिद्ध प्रसग इस प्रकार है—

"कहा मानसर चाह सो पाई,
पारस रूप यहाँ लगि आई।
भा निर्मल तिन्ह पायन परसे,
पावा रूप रूप के दरसे।

मलय समीर वास तन आई,
भा सीतल गै तपीन बुझाई।
न जनौं कौन पौन लेई आवा,
पुन्य दसा भई पाप गवाँवा।
तत खन हार वेगि उतराना,
पावा ससिन्ह चन्द विहंसाना।
विकसा कुमुद देखि ससि रेखा,
भई तह आप जहाँ जेइ देखा।
पावा रूप रूप जस चाहा,
ससि मुख जनु दर्पन होइ रहा।
नयन जो देखा कंवल भा निरमल नीर शरीर।
हंसत जो देखा हंस भा दसन ज्योति नगहीर।।"

इस अवतरण में साध्य का आध्यात्मिक स्वरूप पूर्ण स्पष्ट हो गया है। इसमें आध्यात्मिकता और साहित्यिकता दोनो ही अपनी पराकाष्ठा में प्रतिष्ठित की गई है। इन पक्तियो में साधक का स्वरूप, साध्य का स्वरूप तथा दोनो के मिलन का बडा ही रहस्यात्मक वर्णन किया गया है। इसमें हमें इब्नेसिना नामक सूफी के सौन्दर्यवाद तथा वेदान्त और सूफियो के सहूदिया वर्ग के प्रतिबिम्बवाद की अच्छी झलक मिलती है। रूपकातिशयोक्ति विभावना आदि अलकारो से उक्ति में चमत्कार आ गया है। साध्यवसाना लक्षणा से एक विचित्र लाक्षणिकता आ गई है जिससे अभिव्यक्ति में बडा सौ दर्य आ गया है। कवि ने मानसरोवर को साधक रूप ध्वनित किया है। पद्मावती साध्य रूप है। वह समत्वबुद्धिरूपिणी होते हुए विराट् ब्रह्म रूप भी है।

उस विराट् ब्रह्म रूपी पारस के स्पर्श से साधक जीव, जिसका प्रतीक मानसरोवर है, ब्रह्म रूप हो जाता है। 'उपनिषद्' में तो यह बात बार-बार दोहराई गई है कि ब्रह्म को प्राप्त करके मनुष्य सब बन्धनो

से निर्मुक्त हो ब्रह्ममय हो जाता है। एक 'उपनिषद्' में लिखा है—

"भिद्यते हृदय ग्रन्थि छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥"

अर्थात् उस परमेश्वर का साक्षात्कार प्राप्त करके हृदय की ग्रंथियाँ नष्ट हो जाती हैं, सब संशय निर्मूल हो जाते हैं, कर्म-बन्धन टूट जाते हैं और वह ब्रह्म रूप हो जाता है। एक दूसरे स्थल पर लिखा है 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म रूप हो जाता है। कबीर ने समत्वबुद्धि के प्राप्त होते ही साधक का भगवान् रूप होना लिखा :—

"लोहा कंचन सम जानहि ते मूरत भगवान्"

इस अवतरण में इसी भाव की प्रतिष्ठा मिलती है। कवि का कथन है कि समत्वबुद्धि रूपी ब्रह्म का प्रतीक पद्मावती के चरणों का स्पर्श करके मानस रूपी साधक अपने समस्त कालुष्यो को धो डालता है। उसके समस्त पुण्य उदय होने लगते हैं। इसी प्रकार समस्त अवतरण का समत्व बुद्धि रूपी विराट् ब्रह्मपरक अर्थ सरलता से लगाया जा सकता है।

अब हम एक दूसरा प्रसग लेते हैं। इस प्रसग में भी पद्मावती का चित्रण समत्व बुद्धिरूपी विराट् ब्रह्म के रूप में ही किया हुआ जान पड़ता है। वर्णन इस प्रकार है—

"सरवर तीर पदमनी आई
खोपा छोर केस मुकलाई
सरवर रूप बिमोहा, हिए हिलोरहि लेई।
पाव छुवै मकु पावौं इहि मिसि लहरै देई॥"

यहा पर कवि ने पद्मावती को विराट् ब्रह्म रूप ही चित्रित किया है। लौकिकता में अलौकिकता का यह आरोप जायसी के रहस्यवाद का प्राण है। अब थोड़ा समत्वबुद्धि और पद्मावती के साम्य पर विचार कर लेना चाहते हैं। मुझे यह कहने में सकोच नहीं है कि मन का प्रतीक

रतनसेन के चरित्र से जितना सामञ्जस्य रखता है उतना समत्वबुद्धि का प्रतीक पद्मावती पर घटित नही होता है। इतना होते हुए भी यदि हम पद्मावती के चरित्र का विश्लेषण करें तो अनुभव होगा कि जायसी ने यथाशक्ति पद्मावती का समत्वबुद्धि से सामञ्जस्य बैठालने की चेष्टा की है। पद्मावती के चरित्र की सबसे प्रधान विशेषता उसकी आदर्श-प्रियता है। वह आदर्श भारतीय प्रेमिका और पत्नी का है। समत्वबुद्धि भी आदर्श रूप है। जायसी ने रतनसेन के मुख से एक स्थल पर कहलाया है—'पद्मावति गुरु हौ चेला।'

आध्यात्मिक और प्रतीकात्मक दृष्टि से बात बिलकुल सही है। मन का पथ-प्रदर्शन समत्व बुद्धि ही कर सकती है। तभी मन अमस्त किया जा सकता है। इस प्रकार यहाँ पर पद्मावती के लिए समत्व बुद्धि का प्रतीक-जो जायसी ने स्वय निर्धारित किया है, पूर्ण सार्थक प्रतीत होता है। इस प्रकार और भी अनेक स्थलो से प्रतीक की सार्थकता प्रकट होती है। किंतु कुछ ऐसे भी स्थल है जहाँ पर यह प्रतीक बहुत औचित्यपूर्ण नही प्रतीत होता है। जो भी हो सामान्यतया जायसी का साध्य सम्बन्धी प्रतीक भी सार्थक कहा जायगा। कोई भी कथा बिलकुल प्रतीको के अनुरूप नही ढाली जा सकती। बडी-बडी सफल आध्यात्तरिक कथाओ के समस्त स्थल प्रतीको के आधार पर स्पष्ट नही किये जा सकते हैं। अतः जायसी से जिन्होंने विशेष शास्त्रो का साग अध्ययन नही किया था, कुछ गलतियाँ हो गई हो तो कोई आश्चर्य नही। हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि उन्होंने प्रतीको का आश्रय लेकर अपनी कथा की अन्योक्ति स्पष्ट करके उसकी रहस्यात्मकता स्पष्ट रूप से स्वीकार कर ली है। कथा का इस रहस्यात्मकता का सकेत करना ही यहाँ पर हमारा लक्ष्य है। अब हम थोडा-सा अन्योक्ति के अन्य पक्षो की आध्यात्मिकता पर भी विचार कर लेना चाहते हैं।

जायसी की अन्योक्ति में हृदय का प्रतीक सिंहलगढ़—जायसी

नें अपनी अन्योक्ति को स्पष्ट करते हुए सिंहलगढ को हृदय कहा है। बुद्धि रूपी पद्मावती इसीमें निवास करती है। यहाँ पर विचारणीय यह है कि सिंहलगढ को हृदय मानना कहाँ तक उपयुक्त है। सिंहलगढ का वर्णन कवि ने दो-तीन स्थलो पर किया है पहला वर्णन इस प्रकार है—

"नित गढ़ बॉचि चलै ससि सूरू, नाहित होय बाजि रथ चूरू।
पौरी नवौ वज्र के साजी, सहस सहस तँह बैठे पाजी ॥
फिरहिं पॉच कुतवार सुभौरी, कापै पावै चपत वह पौरी।
पौरिहि पौरि सिंहगढ़ काढ़े, डरपहि लोग देख तह ठाढ़े ॥
बहु बिधान वै नाहर गढ़े,
जनु गाजहिं चाहहि सिर चढ़े ।
टारहि पूँछ पसारहि जीहा,
कुंजरि डरहि कि गुंजरि लीहा।
कनक सिला गढ़ सीढ़ी लाई,
जगमगाहि गढ ऊपर ताई।
नवौ खण्ड नव पौरी, औ तह वज्र किवार।
चारि बसेरे सो चढे, सत सो उतरे पार ॥
नव पौरि पर दसव दुवारा,
तेहि पर बाज राज घरियारा। .
घरी सो बैठि गिनै घरियारी,
पहर पहर सो आपनि बारी।"

सिंहलग का उपर्युक्त वर्णन उसे हृदय का प्रतीक नही प्रकट करता।• इसे हम शरीर का प्रतीक मान सकते है। इसमें गढ के माध्यम से शरीर का हठयौगिक वर्णन किया हुआ जान पडता है। इसमें नौ द्वारों की चर्चा की गई। नौ द्वार वाले शरीर का वर्णन जायसी से पहले भी योगी लोग करते आए है। यहाँ तक कि वेद में भी एक

स्थल पर 'नव द्वारे पुरे देही' का वर्णन मिलता है।¹ दशम द्वार ब्रह्म-रन्ध्र को कहते है। यह ब्रह्माण्ड में होता है, हृदय में नही। इन सब बातो से स्पष्ट हो जाता है कि जायसी का अपनी अन्योक्ति में सिंहलगढ को हृदय का प्रतीक कहना सार्थक नही है। इस कथन की पुष्टि सिंहलगढ़ के एक दूसरे वर्णन से भी होती है वह इस प्रकार है—

"गढ़ तस बाँक जैस तोरि काया।
पुरुष देखि ओही कै छाया॥
पाइय नाहि जूझि हठ कीन्हे।
जेहि पावा तेहि आपुहि चीन्हे॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा।
और तेह फिरहि पाँच कोतवारा॥"

उपर्युक्त वर्णनो से स्पष्ट है कि सिंहलगढ़ हृदय का प्रतीक न होकर शरीर का प्रतीक है। अब प्रश्न यह है कि जायसी ने यह भूल क्यो की। हमारी धारणा यह है कि जायसी अपनी कथा के एक साथ कई सांकेतिक अर्थ व्यञ्जित करना चाहते थे। इनमें तीन बहुत स्पष्ट मालूम पडते है—मनोविज्ञानपरक, हठयोगपरक और सूफी साधना-परक। इनमें से दो अर्थों की लगभग पूरी-पूरी व्यञ्जना मिलती है एक सूफी साधनापरक अर्थ की और दूसरी मनोवैज्ञानिक और आध्या-त्मिक अर्थ की। यौगिक अर्थ की व्यञ्जना उन्होंने कथा में सर्वत्र नही की है केवल दो चार स्थलों पर ही की है। मेरी अपनी धारणा है कि सिंहलगढ का वर्णन करते समय उन्हें शरीर से उसका बहुत अधिक साम्य दिखाई पडा, सम्भवत इसीलिए उन्होंने उसका वर्णन शरीर के साम्य से कर दिया। ऐसे स्थलो पर वे सम्पूर्ण कथा के एक ही आध्यात्मिक अर्थ के निर्वाह वाली बात भूल गए है। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि जायसी ने फिर किस आधार पर हृदय को साध्य का, निवास-स्थान माना है। हमारी समझ में ऐसा लिखते समय उनमें सूफियो की यह

धारणा जागरूक थी कि सूफी साध्य-साधक के हृदय की सम्पत्ति होता है। पीर मुरीद के हृदय में साध्य की जो भावना भर देता है वह उसी रूप में उसकी उपासना करने लगता है। पद्मावत की कथा में तोता रूपी गुरु ने रतनसेन रूपी साधक के हृदय में पद्मावती रूपी साध्य का एक अलौकिक सौन्दर्य प्रतिष्ठित कर दिया है। रतनसेन का हृदय उसी रूप की भावना से भरा रहता है। इस दृष्टि से जायसी का सिंहल-गढ को हृदय का प्रतीक मानना उचित है। सिंहल के स्फुट वर्णनो से प्रकट भी होता है कि वह हृदय का प्रतीक है सिंहलद्वीप—वर्णन खण्ड की प्रथम पक्तियो से ही इस बात की ध्वनि निकलती है कि जायसी सिंहलद्वीप को हृदय का प्रतीक मानते थे। वे लिखते है—

"सिंहलदीप कथा अब गावौं।
औ सो पद्‌मिनि वरनि सुनावौ ॥
निरमल दरपन भाँति विशेषा।
जो जेहि रूप सो तैसेइ देखा ॥"

वास्तव में पद्मावती रूपी समत्व बुद्धि का उदय दर्पण के समान शुद्ध और स्वच्छ हृदय में होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार और भी पक्तियाँ मिलती है जिनसे स्पष्ट प्रकट होता है कि जायसी ने सिंहलगढ की कल्पना हृदय के प्रतीक के रूप में की है। अत हम इस दृष्टि से जायसी की अन्योक्ति को असफल नही कह सकते। जो कवि अपनी बहुज्ञता दिखाने के लिए बावले रहते है उनसे इस प्रकार की गलतियाँ साधारणतया हो ही जाती है। जायसी में यह दोष अपने अति रूप मे पाया जाता था। वे जहाँ भी अवसर पाते थे अपनी बहुज्ञता प्रदर्शित करने लगते थे। सिंहलगढ का वर्णन करते समय भी वे अपना हठयौगिक ज्ञान का प्रदर्शन करने में लग गए है। उनकी इसी मनोवैज्ञानिक दुर्बलता के कारण ही उनकी अन्योक्ति का क्रम-भग-सा हो गया है।

जायसी के द्वारा दिये गए अन्योक्ति के अन्य प्रतीक कथा से पूर्ण

साम्य रखते हैं चित्तौडगढ को शरीर का प्रतीक मानना सार्थक ही है। मन को जो कि इन्द्रियो का स्वामी है निवास-स्थान इन्द्रियो का सघात मानव-शरीर ही है। सिंहलगढ के सदृश जायसी ने चित्तौडगढ के वर्णन भी हठयौगिक ढग पर लिखे हैं। वास्तव में वे अपनी बहुज्ञता प्रदर्शन वाली वृत्ति से कभी भी पिण्ड नही छुडा सके हैं। जायसी ने तोते को गुरु माना है। यह प्रतीक भी सार्थक है। आगे यह बात स्पष्ट की जायगी। इसी प्रकार राघवचेतन अलाउद्दीन और नागमती आदि के लिए दिये गए प्रतीक भी बिलकुल निरर्थक नही प्रतीत होते। वास्तव में यह कथा में पूर्ण रूप से घटित हो जाते है। आगे इन पर विचार किया जायगा। इस प्रकार अत्यत सक्षेप में हम कह सकते हैं कि जायसी ने पद्मावत की कथा की अन्योक्ति का जो स्पष्टीकरण किया है वह निरर्थक नही है। यह बात दूसरी है कि एकाध स्थलो पर उसका कोई प्रतीक एक दूसरे अर्थ की व्यञ्जना करने लगा हो। अपने को जायसी का विशेषज्ञ मानने का दम्भ भरने वाले कुछ सज्जन लिखते हैं—'यहाँ पर इतना कहना पर्याप्त है कि कवि ने सारे कथानक को शरीर के अन्दर घटित किया है जिसमें कवि असफल है। असफल होने के दो कारण है। पहला तो यह कि कवि ने यह व्याख्या काव्य लिखने के बाद में की है। काव्य-रचना आरम्भ करते समय उसके मस्तिष्क में कोई ऐसी वस्तु प्रतीत नही होती। इस कारण यह काव्य पर लागू नही होता दूसरा कारण यह है कि कवि की बुद्धि ही शायद इतनी अधिक नही है कि वह इसको ठीक तरह घटित कर सके।' कवि की बुद्धि को कोसने वाले इन महाशय की बुद्धि पर वास्तव में मुझे बडा तरस आता है। जायसी अद्वितीय प्रतिभाशाली और बहुश्रुत कवि थे इस बात की अवहेलना कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति नही कर सकता। वास्तव में जायसी की अन्योक्ति एकाध स्थलो को छोडकर पूर्ण और सफल है इन महाशय ने जायसी की अन्योक्ति तोडते समय हृदय को भी

मन मान लिया है और फिर कहते है कि रतनसेन और सिंहल मन के प्रतीक क्यों है, यह समझ मे नही आता। समझ में भी कैसे आए। समझने के लिए विस्तृत अध्ययन और चेतन-वुद्धि की आवश्यकता होती है हृदय और मन दोनो एक नही है। हृदय वह गुहा है जिसमे अन्त - करण चतुष्टय निवास करता है। अन्त करणचतुष्टय है मन-वुद्धि-चित्त-अहकार। यह सव हृदय में रहते है इसी हृदय में आत्मा भी निवास करती है जो इन सवसे परे है।

भारतीयो ने ही नही सूफियो ने भी हृदय को मन से, जोकि एक इन्द्रिय ही है, विलकुल अलग माना है। सूफी लोगो ने मनुष्य के जो चार विभाग किये है वे क्रमश इन्द्रिय (नफ्स) आत्मा (रूह) हृदय (कल्वँ) तथा अक्ल है। इनमें हृदय अलग है और इन्द्रियाँ अलग। दोनो एक नही माने गए है। इस प्रकार न तो भारतीय दर्शन के आधार पर और न सूफी दर्शन के आधार पर ही हम हृदय को मन का पर्याय कह सकते है। इन महाशय ने अपनी वुद्धि को प्रमाण मानकर जो जी चाहा लिख दिया है। 'पडितो के पिछलगें' जायसी की वात आपकी समझ में आती भी कैसे ? आपका दूसरा प्रश्न है जायसी नें माया के लिए जो तीन प्रतीक दिये है वे क्या है ? यहाँ पर भी आपने अपनी वुद्धि को कष्ट न देकर समझने की चेष्टा नही की है हम वार-वार कह चुके है कि जायसी सूफी दर्शन और भारतीय अद्वैतवाद दोनो से प्रभावित थे। सूफी साधना में शैतान को साधना में वाधक माना जाता है और भारतीय दर्शनो में माया साधना की प्रधान वाधिका कही गई है। जायसी दोनों दर्शनो की वातें लाना चाहते थे, क्योकि उनका लक्ष्य हिन्दू और मुसलमान दोनो में सामञ्जस्य स्थापित करना था। यही कारण है कि उन्होंने राघवचेतन को शैतान और अलाउद्दीन को माया कहा है। अव प्रश्न यह उठता है कि उन्होंनें नागमती को दुनिया का धधा क्यो कहा है ? यहाँ पर भी हम यही कहेंगे कि जायसी भारतीय और सूफी

दोनो विचार-धाराम्रो का सामञ्जस्य वैठालना चाहते थे। भारत में जीवन के दो मार्ग माने गए हैं—प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग का प्रतीक पत्नी मानी जाती है। जायसी का लक्ष्य मन रूपी साधक को प्रवृत्ति मार्ग से हटाकर निवृत्ति मार्ग या ससार से हटाकर परमार्थ में लगाना था। यही कारण है उन्हें प्रवृत्तिमार्गी जीवन का प्रतीक रूप नागमती को दुनिया का घघा कहा है। उनका ऐसा कहना वास्तव में सार्थक है। यहाँ पर एक प्रश्न और उठ खड़ा होता है। वह यह कि जब जायसी नारी को प्रवृत्ति मार्ग का प्रतीक मानते थे तो फिर उन्होने पद्मावती के लिए रतनसेन को क्यो व्याकुल दिखाया है। वास्तव में पद्मावती ब्रह्म का प्रतीक मानी गई है। सूफी लोग नारी को अध्यात्मिक प्रेम का अवलम्ब मानते थे। जलाउद्दीन ने उसे ईश्वर की ज्योति की किरण कहा है। पद्मावती को जायसी ने उसी रूप में चित्रित किया है। पद्मावती पूर्ण प्रेम का भी अोतार है। सूफी-साधना में प्रेम की पराकाष्ठा दिखलाने के लिए परकीया को ही महत्त्व दिया जाता है। इस दृष्टि से भी पद्मावती को सासारिकता का प्रतीक नही माना जा सकता। इतना तो अवश्य स्वीकार करना पडेगा कि सूफी-साधना की अभिव्यक्ति के लिए वावले हुए मुसलमान कवि जायसी ने भारतीय स्वकीया के महत्त्व को धक्का पहुँचाया है।

जायसी की अन्योक्ति का प्रस्तुत अप्रत्यक्ष पक्ष

सूफी साधना के प्रकाश में अन्योक्ति का स्पष्टीकरण— अब हम जायसी की अन्योक्ति का स्पष्टीकरण सूफी साधना की दृष्टि से करना चाहते हैं। सूफी साधना की दृष्टि से भी रतनसेन ही 'सालिक' या साधक ठहराते हैं। उनका सारा जीवन एक सूफी साधक के जीवन से साम्य रखता है। सूफी साधक आध्यात्मिक साधना के लिए पूर्वजन्म के सस्कार लेकर उत्पन्न होता है। ज्योतिषी इन सस्कारो को सरलता से पढ लेते हैं। रतनसेन ऐसे ही सस्कार लेकर उत्पन्न हुआ था। 'उसे

सिंहलगढ में जाकर सिद्धि प्राप्त होगी यह भविष्य-वाणी ज्योतिषी जन्म समय में ही कर चुके थे —

"पण्डित गुनि सामुद्रिक देखा।
देखि रूप और लखन विशेषा॥
रतनसेन यह कुल निरमरा।
रतन ज्योति मन माथे परा॥
पदुम पदारथ लिखी जो जोरी।
चाँद सुरज जस होय अजोरी॥
जस मालति कह भौंर वियोगी।
तस ओहि लागि होय यह जोगी॥
सिंहल दीप जाई यह पावै।
सिद्ध होय चित और लेहि आवै॥"

इन सस्कारो को गुरु जाग्रत करता है। जायसी ने तोते को गुरु रूप में चित्रित किया है। गुरु के समस्त गुण तोते में प्रतिष्ठित किये गए है। गुरु का सबसे प्रधान लक्षण है कवि और पण्डित होना। तोता भी 'वियास' की भाँति कवि और 'सहदेव' के समान पण्डित है—

"कवि वियास पंडित सहदेऊ।"

गुरु या पीर का सत्यनिष्ठ होना भी परमावश्यक होना है। तोता परम सत्यनिष्ठ है वह प्राणो की भी उपेक्षा करके सत्य बोलना उचित समझता है —

"सत्य कहत राजा जिऊ जाऊ।
पै मुख असत न भासौं काऊ॥"

जिस प्रकार सत्यनिष्ठ गुरु साधक को सत्य का उपदेश देता है, उसी प्रकार तोता भी रतनसेन को सत्य एव सौन्दर्य स्वरूपा पद्मावती की सूचना देता है। पद्मावती रूपी ब्रह्म का उपदेश सुनकर राजा उसकी दिव्यता से मुग्ध हो मूर्छित हो जाता है—

"सुनतहि राजा गा मुरझाई।
जानौ लहरि सुरुजि कै आई॥"

जिस प्रकार गुरु की प्रेरणा से साधक के पूर्व जन्म के सस्कार जाग्रत हो जाते हैं और वह इस ससार से उदासीन होकर अपनी साधना में सलग्न हो जाती है उसी तरह रतनसेन भी तोते रूपी गुरु से पद्मावती रूपी प्रियतम का सदेश पाकर ससार से उदासीन होकर उसकी खोज और साधना में सलग्न हो जाता है। इस समय उसकी स्थिति बावलो-जैसी हो जाती है—

"जब भा चेत उठा बैरागा।
बाउर जनौ सोइ उठि जागा॥"

इसी स्थल पर जायसी ने साधक की परिचयात्मक अनुभूति का बडा सुन्दर चित्रण किया है। जब गुरु या पीर साधक को प्रियतम के दिव्य रूप का परिचय देता है तब उसे जीवन में प्रथम बार विचित्र दिव्यता की अनुभूति होती है। यह परिचयात्मक दिव्यता ही साधक को संसार से उदासीन बना देती है और साधना में पूरी तौर से संलग्न करा देती है। इस परिचयात्मक दिव्यता का जायसी ने बडा सुन्दर और रहस्यपूर्ण वर्णन किया है। सूफियो की पारिभाषिक भाषा में हम इसे हाल की हालत कह सकते हैं—

"आवत जग बालक जस रोवा।
उठा रोय हा ज्ञान सो खोवा॥
हौं तो अहाँ अमर जहा।
यहाँ मरन पुर आएउँ कहा॥"

जिस प्रकार साधक उसकी दिव्यता का परिचय पाकर पागलो की तरह उसकी प्राप्ति और खोज के लिए निकल पडता है, उसी प्रकार रतन सेन भी अपना राज-पाट छोडकर पद्मावती की खोज में निकल

पडता है। इसके लिए वह प्रेम का मार्ग ग्रहण करता है। यह प्रेम का मार्ग बडा ही कठिन होता है—

"प्रेम पहार कठिन विधि गाढ़ा।
सो पै चढ़ै जो सिर सों चढ़ा॥"

इस समय साधक की दृष्टि उलटी हो जाती है वह सायर की उपेक्षा करके अपने साध्य में लीन होने लगती है—

"उलटि दीठि माया सो रूठी।
पलटिन फिरी जानकै झूठी॥"

सूफियो ने साधना रूपी यात्रा की चार अवस्थाएँ शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत मानी है।' जायसी इन अवस्थाओ के महत्व से परिचित थे उन्होने एक स्थल पर उनका उल्लेख करते हुए लिखा है कि—

"चार बसेरे सो चढ़ै संत सो उतरै पार।"

'पद्मावत' में जायसी ने साधक रतनसेन की साधना रूपी यात्रा में भी चार पडाव ध्वनित किये है। रतनसेन का पहला पडाव या बसेरा समुद्र के किनारे पर होता है। यह पडाव शरीयत का प्रतीक कहा जा सकता है यहाँ तक जायसी के रतनसेन का मार्ग उतना कठिन नही है जितना कि आगे आने वाला सात समुद्र का मार्ग चित्रित किया गया है। समुद्र के मार्ग की भयकरता का वर्णन करते हुए गजापति कहता है—

"पै गुसाई सन एक विनॉती।
मारग कठिन जाव केहि भॉती॥
सात समुद्र असूझ अपारा।
मारहि मगर अच्छ घरियारा॥
उठै लहरि नहिं जाय सँभारी।
भागहि कोइ निवहै वैपारी॥"

यहां पर यह भी बता देना चाहते हैं कि जायसी ने शरीयत के मार्ग पर बहुत बल नहीं दिया उनका विश्वास था कि प्रेम साधकों के लिए केवल पहली सीढ़ी-मात्र है। उन्होंने शरीयतों की उपेक्षा भी व्यञ्जित की है। निम्न लिखित पंक्ति से यही बात प्रकट होती है—

"प्रेम पंथ दिन घरी न देखा।
जब देखै तब होय सरेखा॥"

ऊपर निर्देशित तरीकत का मार्ग शरीयत के मार्ग से भी कठिन होता है। इस मार्ग में चलने वाले साधक को अपनी साधना की सिद्धि के लिए अपना सर्वस्व त्यागना पड़ता है। इस स्थिति का संकेत जायसी ने निम्नलिखित पंक्तियों में किया है—

"जो कुछ दरब अहाँ संग दान दीन्ह संसार।
न जाने केहि सत सेती, दैव उतारे पार॥"

इस मार्ग में साधक को सत् का ही पूर्ण आश्रय लेना पड़ता है। तभी साधक सागर पार हो सकता है—

"सायर तरै हिए सत् पूरा।"

साधना का तीसरा पड़ाव हकीकत है। जायसी ने इस स्थिति का भी बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। सातवें समुद्र में आकर सालिक तीसरे पड़ाव पर पहुँच जाता है। इस अवस्था में साधक ब्रह्म के अस्तित्व की हकीकत मालूम हो जाती है। जायसी की निम्नलिखित पंक्तियों में इस स्थिति का वर्णन मिलता है—

"सतएँ समुद्र मानसर आए।
मन जो कीन्ह साहस सिध पाए॥
देखि मानसर रूप सुहावा।
हिय हुलास पुरयान हुइ छावा॥
गा अँधियार रैनि मसि छूटी।
भा भिनसार किरन रवि फूटी॥"

मारिफत की अवस्था अन्तिम अवस्था है। इसके सम्बन्ध में हुजविरी का मत है कि यह दो प्रकार की होती है। एक तो हाली दूसरी इल्मी जायसी ने निम्नलिखित पक्तियो में हाली मारिफत की अवस्था का संकेत किया है—

"जोगी द्रष्टि द्रष्टि सो लीन्हा,
नैन रोपि नैनहि जिउ दीन्हा।
जहि मद चढ़ा परातेहि पाले,
सुधि न रही ओहि एक पियाले ॥"

इन पक्तियो में कवि ने हाल की दशा का अच्छा वर्णन किया है।

हाल के सूफियो ने दो पक्ष बतलाए है—त्याग पक्ष और प्राप्ति पक्ष। त्याग पक्ष की भी तीन स्थितियाँ मानी गई है—फना, फकद और सुक्र। फना में साधक को अपनी सत्ता का ज्ञान नही रहता। फकद में अह भाव का नाश हो जाता है। सुक्र की अवस्था में साधक प्रेम मद में मतवाला हो जाता है। इसी प्रकार प्राप्ति पक्ष की भी तीन स्थितियाँ मानी गई है—बका वज्द और शह्व। बका उस स्थिति क कहते हैं जब साधक की परमात्मा में स्थिति होने लगती है। वज्द में परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। शह्व में पूर्ण शान्ति मिल जाती है। जायसी की कथा में हाल की यह समस्त अवस्थाएँ प्रतिबिम्बित मिलती है। इनका हम क्रमश संकेत कर सकते है। ऊपर अभी जो उदाहरण दिया हे उसमें हाल के त्याग पक्ष की तीनो स्थितियो का आभास मालूम पडता है। इन स्थितियो का अलग-अलग सकेत भी जायसी की कथा में मिलता है। फ़ना में साधक को पूर्ण आत्म-विस्मृति हो जाती है। निम्नलिखित पक्तियो में देखिए फना की स्थिते का ही चित्रण किया गया है—

"बूँद समुद्र-जैस होई मेरा,
गा हिराइ अस मिलै न हेरा।

रंगहि पान मिला जस होई,
आपहि खोय रहा होई सोई।"

इसी प्रकार फ़ना की स्थिति का वर्णन देखिए। इस स्थिति में साधक के अहंकार का नाश हो जाता है वह सोहं रूप हो जाता है। जायसी कहते हैं—

"बाउर अँध प्रेम कर लागू,
सोहं धंसा कछु सूझ न आगू।"

इसी प्रकार सुक्र की अवस्था के उदाहरण मिलते हैं—

"काया जो परम तंत मन लागा।
घूम माति सुनि और न भावा॥
जस मद पिए घूम कोई नाद सुनै पै घूम।
तेहि ते बरजे नीक है चढ़े रहसि के दूम॥"

इसी प्रकार हाल के स्वाप पक्ष की तीन स्थितियों के चित्र जायसी की कथा में ढूंढने से सरलता से मिल जाती है। बक़ा की स्थिति का वर्णन देखिए। रत्नसेन बिल्कुल पद्मावती में लीन है। इसीलिए वह मृत्यु से जरा भी नहीं डरता। जो ब्रह्म रूप हो चुका है। मृत्यु उसका कर भी क्या सकती है। इसीलिए रतनसेन सूली देखकर प्रसन्न होता है—

"जाकर जीउ मरै पर बसा।
सूली देख न सो रस हँसा॥
आजु नेह सो होय निबेरा।
आज पहुमि तज गगन बसेरा॥"

वस्ल की अवस्था इसके बाद की है। इसमें पहुँचकर साधक को साध्य की प्राप्ति हो जाती है। 'पद्मावत' में वस्ल की अवस्था का वर्णन पद्मावती मिलन-खण्ड में माना जायगा। सह्व की स्थिति का सही चित्र जायसी में

नही मिलता। इसका कारण यह है कि जायसी का साधक सिद्धि प्राप्त करके भी पुनरावर्तन करता है। वह तद्रूप नहीं हो जाता। मिलन की आगे की कथा उसी पुनरावर्तन को लेकर चलती है। साधक पद्मावती रूपी सिद्धि को प्राप्त करके उसे चित्तौडगढ में लानें का प्रयत्न करता है। जब सिद्धि की अनुभूति हाल की हालत में होती रहती है तब तक उसे आनन्द और शान्ति दोनो की अनुभूति होती है। किन्तु दूसरा पक्षी रूपी कोई लौकिक व्यक्ति उसे नागमती रूपी लौकिकता का सन्देश दे देता है तो उसके पुराने सस्कार फिर जाग्रत हो जाते हैं और साधक अपनी सिद्धि के साथ शरीर रूपी चित्तौडगढ की ओर ज्यो ही पुनरावर्तन करता है त्यो ही आपत्तियो के बादल उसके जीवनाकाश में मँडरानें लगते है। उसे अपनी पद्मावती रूपी सिद्धि की रक्षा के लिए बडे युद्ध करने पडते है। अन्त में वह ऐसे ही एक युद्ध में मारा भी जाता है। इस प्रकार कथा का पूर्वार्द्ध कथा के उत्तरार्ध में भिन्न है। पूर्वार्द्ध में सूफी-साधना की अन्योक्ति का अच्छा निर्वाह मिलता है, किन्तु उत्तरार्ध में कथा उपदेशात्मक अधिक है, आध्यात्मिक कम। उत्तरार्ध में कवि यही दिखाना चाहता है कि जो साधक सिद्धि प्राप्त करके भी फिर सासारिकता रूपी नागमती के मोह में फँस जाता है उसका परिणाम दुखद होता है। इस प्रकार सूफी साधना का जायसी की कथा से पूरा मेल बैठता मालूम पडता है। अत ज यसी की अन्योक्ति का साकेतिक अर्थ सूफी-साधना के आधार पर लगाया जाना चाहिए।

जायसी की अन्योक्ति के सूफी साधना परक अर्थ के बीच कहीं हठयोग की व्यजना—जायसी की अन्योक्ति को सूफी साधना के ढग पर स्पप्ट करते समय कही-कही ऐसा लग सकता है कि उनकी अन्योक्ति कही हठयौगिक अर्थों की भी व्यञ्जना करती है। उदाहरण के लिए सिंहलगढ का वर्णन लिया जा सकता है। जायसी के सिंहलगढ का वर्णन करते समय उसकी उपमा शरीर से दी है। इसमें कोई सन्देह नही कि

जायसी हठयोग से भी बहुत अधिक प्रभावित थे। उनका सिंहलगढ़ का वर्णन निश्चय ही हठयोग से प्रभावित है। हमारी समझ में इसका कारण यह था कि सूफी-साधना में साध्य या उपास्य का कोई विशेष निवास-स्थान नहीं होता। वह साधक के हृदय की सम्पत्ति होती है। इसीलिए जायसी ने सिंहलगढ़ को हृदय का प्रतीक माना है। जैसा कि हम अभी लिख चुके हैं जायसी योग से अधिक प्रभावित थे। यही कारण है कि सिंहल को हृदय का प्रतीक मानते हुए भी वे उसका वर्णन करते समय उसके हठयौगिक साम्य का उल्लेख करने के लोभ का संवरण नहीं कर सके। किन्तु इससे अन्योक्ति को कोई विशेष धक्का नहीं पहुँचा है। जायसी पर भारतीय मायावाद का भी प्रभाव था, यही कारण है कि उनकी अन्योक्ति के अन्तर्गत माया का वर्णन भी हम पाते हैं। हमारी समझ में जायसी की अन्योक्ति एक ओर तो सूफी साधना का सांकेतिक अर्थ अभिव्यंजित करती है और दूसरी ओर वह कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्यों की ओर संकेत करती है। जायसी ने कथा के मनोवैज्ञानिक पक्ष का ही उद्घाटन किया है। उसके सूफी साधनापरक अर्थों की तथा हठ-यौगिक बातों की व्यंजना अपनी तरफ से करनी पड़ेगी। तभी सम्पूर्ण कथा एक अन्योक्ति मालूम पड़ेगी। इन तीनों के सामंजस्य से अन्योक्ति को स्पष्ट करने पर भी ऐसा अनुभव होता है कि सम्पूर्ण कथा में अन्योक्ति का सफलता पूर्वक निर्वाह नहीं हो सका है। इसके सम्भवतः निम्नलिखित कारण थे।

(१) जायसी को जितना अन्योक्ति बांधने का लोभ था उतना ही अधिक कथा के विस्तार करने का भी। कहीं-कहीं कथा के विस्तार में वे ऐसी बुरी तरह फँस गए हैं कि वहाँ वे अन्योक्ति के अनुरूप कथा को नहीं ढाल सके हैं।

(२) जायसी सूफी साधना, हठयोग, भारतीय वेद-शास्त्र और वेदांत दर्शन आदि न मालूम किन-किन बातों से प्रभावित थे। वे अपनी कथा

मे इन सबकी यथास्थान व्यजना करना चाहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि स्थान-स्थान पर अन्योक्ति का क्रम टूट गया और समासोक्ति की व्यजना पाई जाने लगी।

(३) जायसी के 'पद्मावत' की कथा अत्यधिक भावपूर्ण और रोचक है। कही-कही कवि कथा के रस मे इतना अधिक डूब गया है कि उसे अन्योक्ति के निर्वाह का ध्यान ही नही रहा है।

(४) जायसी ने एक साथ अन्योक्ति के दो तीन साकेतिक अर्थ प्रकट करने की चेष्टा की है। इस बात को अच्छी तरह से स्मरण रखना चाहिए कि जायसी का 'पद्मावत' लिखने में प्रत्यक्ष लक्ष्य केवल कथा-मात्र कहना था जैसा कि कथा के उपोद्घात में ही उन्होंने कहा है। किन्तु परोक्ष लक्ष्य अपने सूफी सिद्धान्तो का हिन्दुओ में प्रचार करना भी था। इसीलिए उन्होंने कथा के माध्यम से अन्योक्ति के सहारे सूफी साधना का सुन्दर सकेत किया है। यदि हम जायसी की अन्योक्ति की विवेचना सूफी साधना के प्रकाश में करें तो हम उसे सफल मानेंगे। अब प्रश्न यह है कि फिर जायसी ने अपनी अन्योक्ति का जो सुलझाव दिया है वह उनकी सूफी साधनापरक क्यो नही है? वास्तव में प्रत्यक्ष ऐसा नही कर सकते हैं। यदि वे ऐसा करते तो हिन्दू लोग उनकी कहानी को पढते ही नही। अतएव उन्हे अपनी कहानी क आध्यात्मिक अर्थ हिन्दुओकी विचार-धारा के अनुरूप ढालना पडा। हिन्दुओ में उस समय योग और वेदान्त की मान्यता अधिक थी। गीता का भी बहुत प्रचार था। उन्होंने अपनी अन्योक्ति का जो सुलझाव दिया है वह पूर्ण भारतीय है। पद्मावती को उन्होंने समत्व बुद्धि का साकार रूप माना है। रतनसेन मन का प्रतीक कहा गया है। मन जब समत्व बुद्धि को प्राप्त कर लेता है तभी वह ब्रह्ममय हो जाता है। यही सिद्धावस्था है गीता में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। ऊपर हम गीता के इस सिद्धान्त का सकेत कर चुके है। जायसी अपनी कथा में प्रत्यक्ष रूप से इ७ सिद्धान्त की भी व्यजना

करना चाहते थे क्योंकि वे जानते थे कि यदि उनकी कथा में हिन्दू सिद्धान्तो के अनुरूप अर्थ न निकला तो पण्डित लोग उसकी प्रशंसा नहीं करेंगे। पण्डितो के द्वारा प्रशंसित न होने पर उनके काव्य का प्रचार हो ही नहीं सकता था। इसीलिए उन्होंने पण्डितो की चापलूसी-सी की है। अपने को पण्डितो के 'पिछलगा' कह उन्होंने पण्डितों के अभिमान भाव की परितुष्टि की है। अन्योक्ति का उपयुक्त भारतीय ढग का मूलभाव देते समय भी उन्होंने उसका श्रेय पण्डितों को ही दिया है—

"मैं एहि अरथ पण्डितन्ह बूझा।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी प्रत्यक्ष रूप में अन्योक्ति को हिन्दू-विचार-धारा के अनुरूप दिखलाना चाहते थे, किन्तु उनका प्रधान लक्ष्य सूफी साधना की अन्योक्ति के सहारे व्याख्या करनी थी। एक कथा से दो आध्यात्मिक अर्थ की व्यञ्जना करने के प्रयास में लगे हुए जायसी कहीं-कहीं तीसरा योगपरक अर्थ भी ध्वनित करने में लग गए हैं। एक साथ दो या तीन आध्यात्मिक अर्थों की व्यञ्जना करने की चेष्टा करते हुए जायसी कहीं एक अर्थ में इतना तन्मय हो गए हैं कि दूसरे अर्थ का निर्वाह नहीं कर सके। इसके अतिरिक्त जायसी का लक्ष्य इस्लाम के महत्त्व का प्रतिपादन करना भी था। प्रोपेगण्डा के भाव से प्रेरित होने के कारण वे बहुत-से स्थलों पर इस बात को बिलकुल भूल गए हैं कि वे एक लम्बी-चौड़ी अन्योक्ति कथा लिख रहे हैं।

इन्हीं सब कारणों से जायसी की अन्योक्ति उतनी अधिक सनम और साग नहीं मालूम पड़ती जितनी कि होनी चाहिए थी। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वह है एक अन्योक्ति ही। अन्योक्ति के सहारे कवि ने सूफी साधना हठयौगिक साधना तथा मनोविज्ञान आदि के बड़े रहस्य पूर्ण तथ्यों का सकेत किया है। इससे कथा की रहस्यात्मकता और भी बढ़ गई है। मेरी समझ में सम्पूर्ण कथा का इस ढग का रहस्यपूर्ण एव आध्यात्मिक निर्वाह जायसी से पहले किसी कवि में नहीं मिलता।

निश्चय ही कथात्मक रहस्यवादियो में जायसी अग्रगण्य कहे जा सकते है।

जायसी के आध्यात्मिक रहस्यवाद की समासोक्ति मूलक कथा शैली

समासोक्ति—कथात्मक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति का एक दूसरा ढग भी है। कवि कथा के बीच बीच में आध्यात्मिक सकेत करता चलता है। यह आध्यात्मिक सकेत किसी क्रम से नही होते है। कभी तो वह मयावाद की व्यञ्जना करदेता है कभी सूफी साधना सम्बन्धी कोई बात कह देता है और कभी किसी अन्य साधना -पद्धति से सम्बन्धित बात ध्वनित करता है। किन्तु इस सभी प्रकार के आध्यात्मिक सकेतो में एक विचित्र और मधुर रहस्यात्मकता पाई जाती है। अपनी इसी रहस्यात्मकता के कारण लौकिक कथा भी कही कही अलौकिक सी लगने लगती है। प्रस्तुत कथा के बीच लाक्षणिकता और व्यञ्जनात्मकता के कारण जहाँ कही अप्रस्तुत रहस्यात्मक भावो की अभिव्यक्ति की जाती है वहाँ अलकारिक समासोक्ति अलकार की अवस्थिति मानते है। यह अलकार अन्योक्ति का बिल्कुल उलटा माना जाता है। अतएव साधारणतया जहाँ अन्योक्ति की योजना की जाती है वहाँ समासोक्ति के लिए कोई स्थान नही रहता। किन्तु जायसी ने अन्योक्ति और समासोक्ति दोनो की सुन्दर योजना की है। हम अभी ऊपर स्पष्ट कह चुके है कि जायसी अपनी कथा में सर्वत्र अन्योक्ति का निर्वाह नही कर सके है। कथा के स्थूल रूप को यदि लें तो वह किसी प्रकार अन्योक्ति सिद्धि की जा सकती है। किन्तु कथा के सूक्ष्म स्वरूप में हम सफलता पूर्वक अन्योक्ति घटित नही कर सकते, क्योकि कथा के बहुत से अश ऐसे है जिनमें बहुत दूर दूर तक लौकिक कथा के अतिरिक्त किसी आध्यात्मिक अर्थ की व्यञ्जना नही मिलती। ऐसे स्थानो पर वे इस बात को बिल्कुल भूल गए है कि वे कथा को अन्योक्ति के रूप में भी लिख रहे है। किन्तु

ऐसे प्रसंगों के लिखते समय जब कभी उन्हें कथा के आध्यात्मिक पक्ष की याद आ जाती है, बस वहीं वे एकाध पंक्ति ऐसी डाल देते हैं जो किसी रहस्यपूर्ण सांकेतिक अर्थ की व्यञ्जना करती है। वृहत् प्रबन्ध काव्य लिखने वालों में प्रायः यह दोष आ जाता है कि वे कथा के प्रवाह और रोचकता में अपने मूल लक्ष्य को भूल जाते हैं और कथा में पूर्ण तन्मय हो जाते हैं किन्तु जब उन्हें होश आता है तभी वह अपने लक्ष्य की कुछ पंक्तियों में व्यञ्जना कर देते हैं। तुलसी ने अपने मानस की रचना भगवान् राम के भक्तों के उपास्य स्वरूप की प्रतिष्ठा करने के लिए की थी। किन्तु बीच-बीच में कथा के प्रवाह में पड़कर वे अपने लक्ष्य को बिल्कुल भूल जाते हैं किन्तु जब होश आता है तब एकदम याद दिला देते हैं कि राम मानव नहीं भगवान हैं। यही हालत जायसी की है। कथा की रोचकता में वे इतना डूब जाते हैं कि उन्हें होश ही नहीं रहता उनका लक्ष्य कथा के सहारे किन्हीं आध्यात्मिक बातों की व्यञ्जना करना भी है। जब कभी इस बात का स्मरण हो आता है तभी वे एकाध वाक्य ऐसा लिख देते हैं जिससे अप्रस्तुत की व्यञ्जना होती है।

जायसी की समासोक्तियाँ—अब हम जायसी की समासोक्तियों पर विचार करना चाहते हैं। कथा का प्रारम्भ सिंहल द्वीप के वर्णन से किया गया है। कवि सिंहल द्वीप का वर्णन करते हुए वृक्षों की छाया का प्रसंग आते ही अप्रस्तुत की ओर संकेत कर देता है—

"जेइँ वह पाई छाँह अनूपा।
फिरि नहि आइ सहै वह धूपा॥"

इसी तरह से कवि ने मानसरोदक का वर्णन करते समय भी उस की अलौकिकता की ओर संकेत किया है। इस वर्णन को पढ़ते-पढ़ते ऐसा लगता है कि जायसी मानसरोदक के वर्णन के सहारे सहस्त्रार और ब्रह्मरन्ध्र का संकेत कर रहे हैं—

"फूला कॅवल रहा होइ राता।
सहस सहस पखुरिन कर छाता॥
उलथहि सीप मोति उतराही।
चुगहि हँस और केलि कराही॥"

इसी खण्ड में हाट का वर्णन करते-करतें जायसी ससार की ओर सकेत करनें लगते हैं—

"कोई करै बिसाहना काहू केर विकाय।
कोई चलै लाभ सन कोई मूर गॅवाय॥"

इसी खण्ड में कवि ने ि.हल गढ का रहस्यात्मक वर्णन भी दिया है। सिंहल गढ का यह वर्णन पूर्ण हठयौगिक है और इसीलिए बडा ही रहस्यात्मक हो गया है। जायसी के हठयौगिक रहस्यवाद का विवेचन करते समय इस पर विस्तार से विचार करेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं एक ही खण्ड में कवि ने प्रस्तुत कथा के प्रसग में अप्रस्तुतो की व्यञ्जना की है। इसीलिए 'ऐसे स्थलो पर समासोक्ति अलकार हो गया है। साथ ही सम्पूर्ण प्रसग ही रहस्य पूर्ण प्रतीत होनें लगता है।

जायसी में समासोक्ति का समावेश उनकी अन्योक्ति के कारण भी हुआ है। अन्योक्ति का स्पष्ट करते समय हम लिख चुके हैं कि जायसी की पद्मावती समत्व वुद्धि रूपी परमात्मा की प्रतीक है। पद्मावती का लौकिक वर्णन करते करते वे अन्योक्ति के इस प्रतीक की ओर भी सकेत कर देते हैं। जैसे जन्म खण्ड में पद्मावती का नख-शिख-वर्णन करते-करते वे उसके ब्रह्मत्व की ओर सकेत करने लगते हैं—

"जग कोई दीठि न आवै 'आछेनैन अकास।
जोग जती सन्यासी तप साधहि तेहि आस।"

जायसी ने बहुत-से स्थलो पर समासोक्ति की योजना सूफी विचार-धारा की अभिव्यक्ति के हेतु भी की है। सूफी लोग प्रेम को ही मूल तत्त्व मानते हैं। और उस दिव्य प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए दाम्पत्य-प्रतीक

का आश्रय लेते हैं। वे परमात्मा को प्रियतम और अपने को प्रेमिका मानते हैं। इसी प्रतीक के आधार पर वे इस लोक को नैहर और उस लोक को प्रियतम का लोक मानते हैं। जायसी ने इस भाव की व्यञ्जना अनेक स्थानों पर बड़े मार्मिक ढंग से की है। मानसरोवर खण्ड के प्रारम्भ में ही वे लिखते हैं—

"ऐ रानी मन देखु बिचारी।
एहि नैहर रहना दिन चारी॥
जौ लगि अहै पिता कर राजू।
खेल लेहु जो खेलहु आजू॥

पुनि सासुर हम गवनब काली।
कित हम कित यह सरवर पाली॥
कित आवन पुनि अपने हाथा।
कित मिलि कै खेलब एक साथा॥"

सूफी लोग उपास्य का स्वरूप सगुण और निर्गुण दोनों को मानते हैं। सगुण इस रूप में कि वह दिव्य सौन्दर्य सम्पन्न होता है, निर्गुण इस रूप में कि लोक में उसकी प्रतिष्ठा नहीं होती। सूफी साधक का उपास्य रूप ठीक वैसा ही होता है जैसा कि गुरु शिष्य के हृदय में भर देता है। जायसी ने अपनी अन्योक्ति में पद्मावती को बुद्धि का प्रतीक माना है। बुद्धि का साकार रूप ही पद्मावती है। बुद्धि को परमात्मा का रूप मानकर जायसी ने पद्मावती के लौकिक वर्णनों के बीच उसके अलौकिक रूप की ओर भी संकेत किया है। मानसरोवर-खण्ड में उसके रूप की अलौकिकता का बड़े विस्तार से उल्लेख किया गया है। पद्मावती ब्रह्म रूप है अतः सारी सृष्टि यहाँ तक कि जड़ मानसरोवर भी उसके चरणों तक पहुँचने की चेष्टा करता है—

"सरवर रूप विमोहा।
हिये हिलोरहि लेइ॥
पाव छुवै मकु पावौ।
एहि मिसि लहरहि देहि॥"

इसी प्रकार इस खण्ड के अन्तिम अवतरण में भी पद्मावती के ब्रह्मत्व का सकेत किया गया है—

"कहा मानसर चाह सो पाई।
पारस रूप यहा लगि आई॥
नयन जो देखा कवल भा निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा दसन ज्योति नग हीर॥"

अन्य सैकडो स्थलो पर भी पद्मावती के लौकिक वर्णनो के बीच उसकी दिव्यता एव अलौकिकता अभिव्यञ्जित की गई है।

जायसी ने कभी कभी अप्रस्तुत भावो की व्यञ्जना के लिए श्लेष का भी उपयोग किया है उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित पक्तियाँ ले सकते हैं—

"काहेक भोग विरछ अस फरा।
आउ लाइ पंखिन कह धरा॥"

यहाँ पर भोग पर श्लेष है। भोग का एक अर्थ केला है और दूसरा विषय-वासना। इस प्रकार और भी बहुत से उदाहरण 'पद्मावत' में पाए जाते है एक उदाहरण इस प्रकार है—

"धातु कमाय सिखैतै जोगी।
अब कस भा निरधातु वियोगी॥"

एक दूसरा वर्णन भी ठीक इसी प्रकार का है—

"का पुँछहु तुम धातु निछोही
जो गुरु कीन्ह अन्तर पर ओही।"

[illegible]

दई चलावै डगु केहिहि बाटा ॥"

इसी प्रकार अद्वैतवाद की भी व्यञ्जना की है [illegible]

कहती है—

जानेउ [illegible] गाहि [illegible] ।

देखौ ताहि तौ हौं सब पाहा ॥"

इसी प्रकार देखिए निम्नलिखित अवतरण में जायसी ने भावानन्द और अद्वैतवाद आदि की कितनी भावात्मक व्यञ्जना की है—

"जब लगि गुरु हौं अहा न चीन्हा ।
कोटि अन्तर पट बीचहि दीन्हा ॥
जब चीन्हा तब और न कोई ।
तन मन जिउ जीवन सब सोई ॥
हौं हौं करत धोक इतराई ।
जब भा सिद्ध कहा प छाईं ॥
मारै गुरु कि गुरु जियावै ।
और को मार मरै सब आवै ॥
सूरी मेलि हस्ति कर चूरू ।
हौं नहि जानौं जानै गुरू ॥"

इस प्रकार और भी बहुत-से स्थलो पर जायसी ने कथा-प्रसगो के बीच गूढ आध्यात्मिक सिद्धान्तो की व्यञ्जना की है। यह समस्त वर्णन आध्यात्मिक रहस्यवाद के अन्तर्गत आते है।

जायसी ने सूफी सिद्धान्तो की व्यञ्जना स्थान-स्थान पर समासोक्ति के सहारे की है। हकीकत की अवस्था का यह वर्णन देखिए—

"सतएँ समुद मानसर आए।
मन जो कीन्ह साहस सिधि पाए॥
देखि मानसर रूप सुहावा।
हिय हुलास पुरइनि हुई छावा॥
गा अँधियार रैनि मसि छूटी।
भा भिनसार, किरनि रवि फूटी॥
'अस्ति' 'अस्ति' सब साथी बोले।
अंध जो अहा नैन बिध खोले॥

इसी प्रकार हाल की हालत के सुन्दर सकेत भी मिलते है। एक वर्णन इस प्रकार है—

"काया जो परम तत्त मन लावा।
घूमि माति सुन और न भावा॥
जस मद पिए घूमि कोई नाद सुनै पै घूम।
तेहि के बरजे नीक है चढे रहँसि के दूम॥"

इसी प्रकार सूफी विचार-धारा और साधना की बहुत-सी बातो का सकेत जायसी ने समासोक्तियो के सहारे किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जायसी ने कथा के बीच-बीच में समासोक्ति के सहारे रहस्यात्मक आध्यात्मिक अर्थों की व्यञ्जना की है। यह सब उदाहरण आध्यात्मिक रहस्यवाद के अन्तर्गत आयेंगे।

जायसी के आध्यात्मिक रहस्यवाद में आध्यात्मिक भावात्मक विवेचना—जायसी भावुक कवि थे। प्रेम उनकी साधना का प्राण था और [illegible] रहस्यवाद [illegible] दिया। उनकी रचनाओं में [illegible] प्रेम और [illegible] का सुन्दर [illegible] दिखाई पड़ता है। [illegible] भी प्रेम भाव से उनकी [illegible] को [illegible] कर लिया है, वही सुन्दर [illegible] आध्यात्मिक रहस्यवाद की मधुर व्यञ्जना हो गई है।

ब्रह्म—ब्रह्म के भावात्मक वर्णन उपनिषदों में भी पाए जाते हैं। ब्रह्म के विभावनात्मक वर्णन प्रायः भाव प्रधान होते हैं। उपनिषदों में '*अपाणि पादो जवनो ग्रहीता*' आदि अनेक विभावनात्मक वर्णन मिलते हैं। भावुक जायसी भला अपने 'गुसाईं' के ऐसे भावात्मक वर्णन करना कैसे भूल सकते थे। उनके विभावनात्मक वर्णन वास्तव में बड़े ही मधुर और मनोरम हैं—

"एहि विधि चीन्हहु करहु गियानू।
जस पुरान महँ लिखा बखानू॥
जीउ नाहि पै जिए गुसाईं।
कर नाहीं पर करै सबाईं॥

जीभ नाहीं पै सब कुछ बोला।
तन नाहीं सब ठाहर डोला॥
स्रवन नाहि पै सब कुछ सुना।
हिया नाहि पै सब कुछ गुना॥

नयन नाहि पै सब कुछ देखा।
कौन भाँति अस जाय बिसेखा॥
है नाहीं कोई ताकर रूपा।
ना ओहि सन कोई आहि अनूपा॥

ना ओहि ठाउँ न ओहि बिन ठाऊँ।
रूप रेख बिन निरमल नाऊँ॥
ना वह मिला न बेहरा ऐस रहा भर पूरि।
दीठिवेत कह नीयरे अंध मूरखहि दूरि॥"

ब्रह्म के भावात्मक वर्णनो के अन्तर्गत उनका विराट रूप भी आता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में इस रूप के सुन्दर चित्र मिलते हैं। भगवान् का विराट् रूप निश्चय ही बड़ा भावात्मक होता है। जायसी ने प्रत्यक्ष रूप से तो इस रूप का वर्णन नही किया है, किन्तु पद्मावती को ही विराट ब्रह्म का प्रतीक मानकर उसका भावपूर्ण सांकेतिक चित्र खींचा है। इस प्रकार का सबसे प्रसिद्ध वर्णन निम्न लिखित है—

"कहा मानसर चाह सो पाई।
पारस रूप यहा लगि आई॥
भा निरमल तिन्ह पायन परसे।
पावा रूप रूप के दरसे॥
मलय समीर बास तन आई।
भा सीतल गै तपनि बुझाई॥
ततखन हार वेगि उतिराना।
पावा सखिन्ह चन्द बिहसाना॥
बिगसा कुमुद देखि ससि रेखा।
भई तहँ ओप जहा जेई देखा॥
पावा रूप रूप जस चाहा।
ससि मुख जनु दरपन होइ रहा॥
नयन जो देखा कँवल भा निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा दसन ज्योति नगहीर॥"

इस अवतरण में जायसी ने पद्मावती का चित्रण विराट् ब्रह्म के

फलक द्वादस बान होइ गह सोहाग पट भाग।
सेवा करहि नखत सब दौ गगन जस गाँग ॥"

इसी प्रकार उस विराट् ब्रह्म रूपी पद्मावती के नेत्रों के डोलने से सारा संसार डोल पड़ता है—

"जग डोलत डोलै नैं नाहा।
उलटि अडार जाहि पल माहा ॥
जब फिराहि गगन गहि बोरा।
अस वै भौंर चक्र के जोरा ॥"

उस विराट् ब्रह्म रूपी पद्मावती के दसनों की शोभा से सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र तक ज्योतिर्मय रहते हैं—

"जेहि दिन दसन ज्योति निरभई।
बहुतै ज्योति ज्योति ओहि भई॥
रवि ससि नखत दिपहि वह ज्योती।
रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहँ-तहँ बिहँसि सुभावहिं हँसी।
तहँ-तहँ छिटकि ज्योति परगसी॥
दामिनि दमकि न सरवर पूजी।
पुनि ओहि ज्योति और को पूजी॥"

इस प्रकार जायसी ने ब्रह्म के विराट सौन्दर्य का अतिशयोक्ति, हेतूत्प्रेक्षा आदि के सहारे अच्छा वर्णन किया है।

जायसी ने अपने ब्रह्म की महानता और विशालता के भी भावात्मक वर्णन प्रस्तुत किये है। उनका ब्रह्म इतना विशाल है इतना ऊँचा है कि ससार के समस्त चर-अचर उस तक पहुँचने की चेष्टा करते रहते है किन्तु फिर भी नही पहुँच पाते है—

"धाय जो बाजा कै मन साधा।
मारा चक्र भएउ दुई आधा॥
चाद सुरज और नखत तराई।
तेहि डर अन्तरिख फिरहिं सबाई॥
पौन जाइ तह पहुँचै चहा।
मारा तैस लोट भुईं रहा॥
आगनि उठी जरि उठी नियाना।
धुँवा उठा उठि बीच बिलाना॥
पानि उठा उठि जाइ न छूवा।
बहुरा रोइ आइ भुईं चूवा॥"

जायसी ने अपने ब्रह्म की अद्वैतता का भी भावात्मक वर्णन किया है—

"आपुहि मचि जियन पुनि,
आपुहि तन मन सोइ।
आपुहि आपु करै जो,
न्हा सो दूसरे कोइ॥"

जायसी का अद्वैत ब्रह्म ही उनका प्रियतम है और उसके दर्शन हृदय में ही आते हैं—

"काया उदधि चितव पिउ माहा।
देखो रतन सो हिरदय माँहा॥
जानहु आहि दरपन मोर हीया।
तेहि महँ दरस दिखावै पीया॥
नैन नियर पहुँचत सुठि दूरी।
अब तेहि लागि मरों मैं भूरी॥
पिउ हिरदय महँ भेंट न होई।
कोई रे मिलाव कहौ केहि रोई॥"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जायसी में ब्रह्म के बहुत-से अत्यन्त रहस्यपूर्ण भावात्मक वर्णन मिलते हैं। यह सब वर्णन उनके विवेचनात्मक आध्यात्मिक रहस्यवाद के प्राण कहे जायेंगे।

जीव—जीव संसार आदि विषयों को लेकर लिखे गए, भावात्मक रहस्यपूर्ण वर्णन जायसी में कम मिलते हैं। जायसी ने जीव का वर्णन अगर भावात्मक ढंग से किया भी है तो वह साधक जीव का ही है। जीव के स्वतन्त्र गुणों का कहीं भी भावात्मक ढंग से उल्लेख नहीं किया गया है। मानसरोदक खण्ड में कवि ने मानसरोवर के रूप में साधक जीव का भावपूर्ण चित्रण किया है—

"भा निरमल तिन्ह पाँयन परसे।
पावा रूप रूप के दरसे॥

मलय समीर वास तन आई ।
भा सीतल गै तपन बुझाई ॥"

इन पक्तियो से प्रकट होता है कि जीव ससार मे माया से बद्ध होने के कारण कलुषित रहता है, किन्तु ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही उसके समस्त कालुष्य नष्ट हो जाते हैं। वह ब्रह्म रूप हो जाता है। जायसी ने जीव का वर्णन एकाध स्थलो पर तोते के प्रतीक से भी किया है—

"उड़ि यह सुअटा कहँ बसा खोज सखी सो बासु ।
दुहुं है धरती की सरग पौन न पावै तासु ॥

चहूँ पास समझावहि सखी ।
कहाँ सो अब पाउब गा पखी ॥

जौ लहि पींजर अहा परेवा ।
रहा बंदि महं कीन्हेसि सेवा ॥

तेहि बंद हुत छुटै जो पावा ।
पुनि फिरि बंदि होइ कित आवा ॥

वै उड़ान परि तहिए खाए ।
जब भा पँखि पाख तनि आए ॥

पींजर जेहिक सौंपि तेहि गएउ ।
जो जाकर सो ताकर भएऊ ॥

दस दुवार जेहि पींजर माहा ।
कैसे बाच मंजारी पाहा ॥

यह धरती अस के तन लीला ।
पेट गाढि अस बहुरि न ढीला ॥"

इस उपर्युक्त अवतरण में जीव और शरीर तथा दोनों के सम्बन्ध पर भावात्मक विचार किया गया है। ज्ञान की प्रधानता होने के कारण यह वर्णन रहस्यवाद में अन्तर्गत आता है।

जायसी ने आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का भी भावात्मक निरूपण किया है। वह इस प्रकार है—

"मैं जानेउँ तुम मोही माहाँ।
देखौं ताकि तौ हौ सब पाहाँ॥"

यहाँ पर कवि ने 'मैं' और 'तुम' की एकता प्रतिपादित की है, साथ ही जीव की ससीमता और परमात्मा की सर्वव्यापकता भी व्यक्त की है।

जायसी ने इस संसार का वर्णन हाट के प्रतीक से किया है। इस हाट से दो मार्ग जाते हैं। यह मार्ग सम्भवतः गीता की दो निष्ठाएँ हैं—

"दुइ मारग देखौं एहि हाटा।
दई चलावै दहुँ केहि बाटा॥"

जायसी ने संसार का वर्णन नैहर के प्रतीक से भी किया है।

"ऐ रानी! मन देखु बिचारी।
एहि नैहर रहना दिन चारी॥"

जगत् और ब्रह्म का सम्बन्ध—जायसी ने जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। वे जगत् की अलग सत्ता नहीं मानते हैं। वास्तव में भ्रम के कारण ब्रह्म और जगत् भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। किन्तु जब ज्ञान का उदय होने लगता है तब वह भेद स्वयं मिट जाता है—

"जब चीन्हा तब और न कोई।
तन मन जिउ जीवन सब सोई॥

'हौ - हौं' कहत धोक इतराहीं।
जब भा सिद्ध कहाँ परछाईं॥"

वेदान्त में ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध पर विचार करते हुए प्रतिबिम्बवाद का प्रतिपादन किया गया है। इसका आधार बादरायण का *'अभास एव च'* और *'उपमा सूर्य कादिबच्चे'* आदि सूत्र है। इस सिद्धान्त के अनुसार ससार ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब केवल दृष्टि ग्राह्म होता है, सत्य नही होता उसी प्रकार यह संसार-सी सत्य नही है जायसी ने इस प्रतिबिम्बवाद का बडे भावात्मक और रहस्यात्मक ढग से प्रतिपादन किया है —

"देखि एक कौतुक हौं रहा।
रहा अंतर पेट पै नहिं अहा॥
सरवर देखि एक मैं सोई।
रहा पानि पै पानि न होई॥
सरग आई धरती मह छावा।
रहा धरति पै धरति न आवा॥"

माया—जायसी ने माया की चर्चा तो की है, किन्तु उनमें माया के भावात्मक वर्णन नही मिलते है। अत उनका उल्लेख दार्शनिक विचारो के प्रसंग में किसी समय किया जायगा। इस प्रकार हम देखते है कि जायसी में हमें आध्यात्मिक रहस्यवाद की सुन्दर भावपूर्ण झाँकी मिलती है।

तुलना—यहाँ पर अब हम जायसी के आध्यात्मिक रहस्यवाद पर थोडा तुलनात्मक विचार कर लेना चाहते है। कबीर में भी हमें दार्शनिक रहस्यवाद की झाँकी मिलती है। किन्तु दोनो में बडा अन्तर है। कबीर के दार्शनिक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति प्राय मुक्तक रूप में हुई है। जायसी में कथात्मक रूप तथा मुक्तक रूप दोनो में ही हुई है। किन्तु प्रधानता कथात्मक दार्शनिक रहस्यवाद की है। उन्होने सम्पूर्ण कथा

को अन्योक्ति बतलाकर एक साथ आध्यात्मिक अर्थ का व्यञ्जित करने की चेष्टा की है। जहाँ कहीं भी उन्होंने समासोक्ति का समावेश भी किया है वहाँ वह समासोक्ति अन्योक्ति के अधीन है। कबीर के दार्शनिक रहस्यवाद की व्यंजना मुक्तक रूप में ही हुई है। जायसी और कबीर के दार्शनिक रहस्यवाद में एक अन्तर और है। जायसी में भाव की प्रधानता है। किन्तु कबीर में बुद्धि और सिद्धान्त दोनों की प्रधानता है। जायसी और कबीर के रहस्यवाद के अन्तर को स्पष्ट करते हुए शुक्लजी ने दोनों के दो समान उद्धरण उद्धृत किये हैं। एक भाव की व्यञ्जना दो कवियों ने अपने-अपने अनुरूप की है। जायसी कहते है—

"पिउ हिरदय मंह भेंट न होई।
कोरे मिलाव कहौ का रोई॥"

इसी बात को कबीर दूसरे और कुछ अधिक शुष्क ढंग से लिखते हैं—

"मोको कहाँ ढूंढता बंदे।
मैं तो तेरे पास में॥
ना मैं देवल ना मैं मसजिद।
ना काबे कैलास में॥"

जायसी और कबीर के दार्शनिक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति-प्रणालियों में भी भेद है। कबीर ने अधिकतर उलटवासियों और रूपकों का आश्रय लिया है और जायसी ने अन्योक्ति और समासोक्तियों का। इन्हीं सब कारणों से जायसी का दार्शनिक रहस्यवाद अधिक भाव-प्रधान और मधुर प्रतीत होता है और कबीर का शुष्क और सिद्धान्त-प्रधान।

रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति में प्रकृति और जायसी का प्रकृतिमूलक रहस्यवाद

उपनिषदों में प्रकृतिमूलक रहस्यवाद—भा.क रहस्यवादियों के

लिए प्रकृति सदा से ही सजीव और सार्थक रही है। रहस्यवाद का मूलभूत सिद्धान्त भावात्मक अद्वैतवाद है। इस अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा के लिए प्रकृति में परमात्मा की झाँकी देखना स्वाभाविक ही नही अनिवार्य है। यही कारण है कि पाश्चात्य भारतीय और सूफी सभी रहस्यवादी प्रकृति के पर्दे के पीछे परमात्मा के दर्शन करते रहे है। उपनिषदो में इस बात का प्रतिपादन बडे ही भावपूर्ण और रहस्यात्मक ढग से किया गया है। दो-एक उदाहरण दे देना अनुपयुक्त न होगा। ब्रह्मणोपनिपद् में एक स्थल पर प्रकृति के समस्त पदार्थो को उसी विराट् ब्रह्म का अग रूप कहा गया है —

'तस्यैव वाचः पृथिवी शरीरम्
ज्योतिरूपमयमग्निस्तधावत्येव
वाकावती पृथिवी तावानयमग्नि.
अथैतस्य मनसो द्यौः शरीर ज्योतीरूपम
सावादित्यस्तधावदेव मनस्तावती
द्यौस्तावान सावादित्यसौ मिथुन
समैता ततः प्रणोऽजायत स इन्द्र.
स एषोऽसपत्नो द्वितीयोवै सपत्नो
नास्य सपत्नो भवति य एव वेद।

ब्रह्मणोपनिषद ३।१२

इसी प्रकार ब्राह्मणो में अनेक स्थलो पर प्रकृति को विराट् ब्रह रूप ध्वनित किया गया है। पुरुष-सूक्त तो स्पष्ट ही समस्त प्रकृति का विराट् ब्रह्म रूप मे वर्णन करता है।

सूफियों में *प्रकृतिमूलक रहस्य-भावना*—भारतीय रहस्यवादियो ने ही नही सूफी रहस्यवादी भी प्रकृति में परमात्मा के दर्शन करते थ। जलाउद्दीन रूमी ने अपनी एक कविता में जिसका निकलसन-कृत अगरेजा

और असीम आगार है। कोई उसकी रहस्यमयता और अनिर्वचनीयता पर निछावर रहता है और किसी के लिए वह अध्यात्म की विशाल और गम्भीर पुस्तिका है। वास्तव में अपनी अपनी भावना के अनुरूप ही भावुक लोग उसके रूप के दर्शन करते रहे हैं। कुछ ऐसे भी भावुक रहे हैं जिनके लिए वह सब-कुछ थी। जायसी भी एक ऐसे ही कवि थे। प्रकृति के प्रति उनका अच्छा लगाव था। वे उस पर अपनी भावना का आरोप विविध प्रकार से किया करते थे। किन्तु उनकी भावना का प्रिय कार्य था प्रकृति से आध्यात्मिक संकेत ग्रहण करना। देखिए निम्न-लिखित पंक्तियों में सिंहलद्वीप के वृक्षों की छाया का वर्णन करते हुए उस छाया का आध्यात्मिक संकेत कर देते हैं—

"घन अमराउ लाग चहुँ पासा।
उठा भूमि हुत लागि अकासा॥
तरिवर सबै मलयगिरि लाई।
भइ जग छाँह रैनि होइ आई॥
मलय समीर सुहावन छाँहा।
जेठ जाड़ लागै तेहि माँहा॥
ओही छाँह रैनि होइ आवै।
हरियर सबै अकास दिखावै॥
पथिक जो पहुँचै सहि कै घामा।
दुख बिसरै सुख होइ बिसरामा॥
जेइ वह पाई छाँह अनूपा।
फिरि नहिं आइ सहै यह धूपा॥"

जायसी ने प्रकृति के माध्यम से यौगिक वर्णन भी प्रस्तुत किये हैं। इनका विस्तृत में विवेचन जायसी हठयौगिक रहस्यवाद के अन्तर्गत किया जायगा। यहाँ पर केवल इतना ही दिखाना चाहते हैं कि जायसी की प्रकृति हठ-यौगिक रहस्यों की ओर भी संकेत करती है। सिंहल-द्वीप का वर्णन करते

हुए वे उसके प्रकृतिगत सौन्दर्य का वर्णन करते है। वह वर्णन प्रकृति-वर्णन न रहकर एक प्रकार से अत्यन्त रहस्यपूर्ण हठयौगिक वर्णन हो गया है—

"गढ़ पर नीर खीर दुई नदी।
पनिहारी जैसे दुरपदी॥
और कुण्ड एक मोती चूरू।
पानी अमृत कीच कपूरू॥
ओहिक पानि राजा पै पिया।
विरिध होय नहि जौलहि जीया॥
कञ्चन विरिछ एक तेहि पासा।
जस कल्पतरु इन्द्रक विलासा॥
भूल पतार सरग ओहि साखा।
अमर वेलि को पाव को चाखा॥
चाद पात और फूल तराई।
होइ उजियार नगर जह ताई॥
वह फल पावै तप करि कोई।
विरिध खाई तौ जोवन होई॥
राजा भए भिखारी सुनि वह अमृत भोग।
जेइ पावा सो अमर भा ना किछु व्याधि न रोग॥"

२-प्रकृति का परोक्ष सत्ता की साधना में संलग्न रूप का चित्रण

जायसी में प्रकृति का चित्रण साधक रूप में किया गया है। जिस प्रकार मानव किसी परोक्ष सत्ता की साधना में लगा रहता है उसी प्रकार समस्त प्रकृति भी उसीकी साधना में निरत रहती है।

जायसी ने प्रकृति का अधिकाश चित्रण इसी रूप में किया है।

उनकी भावुक दृष्टि सारी सृष्टि उसी परोक्ष सत्ता तक पहुँचने के लिए प्रयत्नशील है—

"धाइ जो बाजा कै मन साधा।
मारा चक्र भएउ दुइ आधा॥
चाँद सुरुज औ नखत तराईं।
तेहि डर अन्तरिख फिरहिं सबाईं॥
पौन जाइ तहँ पहुँचै चाहा।
मारा तैस लोटि भुइँ रहा॥
अगिनि उठा उठि जरी नियाना।
धुआँ उठा उठि बीच बिलाना॥
पानि उठा उठि जाय न छूवा।
बहुरा रोइ आइ भुइँ चूआ॥"

इसी प्रकार जायसी ने मानसरोवर को भी उसी प्रियतम की साधना में संलग्न चित्रित किया है। ऐसे स्थलों पर वे भारतीय भक्ति-मार्ग से प्रभावित प्रतीत होते हैं। पद्मावती तो विराट् भगवान् का रूप है, सरोवर भक्त रूप। भक्त भगवान् के अद्वितीय रूप को देखकर मुग्ध हो रहा है। वह उसके चरणों तक पहुँचना चाहता है। हेतूत्प्रेक्षा के प्रयोग से ऐसे प्रकृति चित्रण बड़े ही मनोरम हो गए हैं—

"सरवर रूप विमोहा,
हिए हिलोरहि लेई।
पाव छुवै मकु पावौ,
एहि मिसि लहरहि देई॥"

इसी भाव का विस्तार हमें इसी खण्ड की अन्तिम पंक्तियों में मिलता है। यहाँ पर उन्होंने स्पष्ट ही भक्त और भगवान् के साक्षात्कार

की परिस्थिति का चित्रण किया है। इन पक्तियो में सेव्य-सेवक-भाव की वडी अच्छी अभिव्यक्ति मिलती है। पद्मावती रूपी विराट् ब्रह्म को देखकर मानसरोवर रूपी साधक आनन्द से विभोर हो जाता है। उसके युग-युग के कालुष्य नष्ट हो जाते है। ऐसे स्थलो पर प्रकृति प्रतीक के रूप म भी ग्रहण की गई है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

"कहा मानसर चाह सो पाई।
पारस रूप यहाँ लगि आई॥
भा निरमल तिन्ह पाँयन परसे।
पावा रूप रूप के दरसे॥
मलय समीर बास तन आई।
भा सीतल गै तपिन बुझाई॥"

७ गूढ़ आध्यात्मिक सिद्धान्तों की व्यञ्जना का माध्यम रूप-प्रकृति

रहस्यवादी कवि लोग गूढ आध्यात्मिक सिद्धान्तो की व्यञ्जना के हेतु भी प्रकृति का चित्रण करते है। कभी-कभी भावुक रहस्यवादी गूढ दार्शनिक सिद्धान्तो और तथ्यो का स्पष्टीकरण प्रकृतिमूलक अन्योक्तियो तथा रूपको के सहारे इतने सुन्दर ढग से करते है कि बुद्धि चमत्कृत हो जाती है। जायसी ने इस रूप में भी प्रकृति का उपयोग किया है। एक साधारण-सा आध्यात्मिक तथ्य है कि सृष्टि के पूर्व में केवल एक तत्त्व था। सब-कुछ अद्वैत रूप था। उस समय पृथ्वी और स्वर्ग-जैसा द्वैत-मूलक भेद न था किन्तु आगे चलकर यह भेद स्पष्ट हुआ। देखिए इसका वर्णन जायसी ने कितने भावात्मक और रहस्यात्मक ढग से किया है—

"धरती सरग मिले हुत दोऊ।
के निनार कै दीन्ह बिछोहू॥"

इसी प्रकार मायावाद की व्यञ्जना निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकृति के माध्यम से ही की गई है—

"देखि एक कौतुक हौं रहा।
रहा अंतर पट पै नहिं अहा॥
सरवर देख एक मैं सोई।
रहा पानि औ पान न होई॥
सरग आई धरती महँ छावा।
रहा धरति पै धरति न आवा॥"

प्रकृति के रहस्यपूर्ण वर्णन.—प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण भी रहस्य-वादियों की रचनाओं में मिला करते हैं। किन्तु साधारण कवियों और रहस्यवादी कवियों के प्रकृति-चित्रण में अन्तर होता है। साधारण कवि जो प्रकृति का संश्लिष्ट रूप-विधान सामने प्रस्तुत करता है वह यथार्थ और यथातथ्य होने के कारण बोधगम्य होता है, किन्तु रहस्यवादी के संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण इतने अलौकिक होते है कि उनमें एक विचित्र रहस्यात्मकता आ जाती है। जायसी में इस कोटि का भी रहस्यपूर्ण प्रकृति-चित्रण पाया जाता है। उनका सात-समुद्र-वर्णन खण्ड ऐसे ही रहस्यपूर्ण संश्लिष्ट चित्रणों से भरा पड़ा है। यहाँ पर हम उनके द्वारा लिखित किल किला समुद्र का वर्णन उद्धृत करते हैं—

"पुनि किला किला समुद्र महँ आए।
गा धीरज देखत डर खाए॥
भा किल किल अस उठै हिलोरा।
जनु अकास उठै चहुँ ओरा॥
उठै लहरि परवत कै नाईं।
फिर आवै जो जन सौ ताईं॥
धरति लेइ सरग लहि बाढ़ा।
सकल समुद जानहु भा ठाढ़ा॥

नीर होइ तर ऊपर सोइ ।
माथे रम समुद जस होई ॥"

इससे भी अधिक रहस्यात्मक सातवें समुद्र का वर्णन है, इस वर्णन में कवि ने समुद्र के आध्यात्मिक पक्ष का उद्घाटन और उसका संश्लिष्ट चित्रण भी किया है। यह चित्रण दिव्य और अलौकिक होने के कारण बहुत रहस्यात्मक हो गया है—

"सतए समुद मानसर आए ।
मन जो कीन्ह साहस सिध पाए ॥
देखि मानसर रूप सुहावा ।
हिय हुलास पुरइनि होइ छावा ॥
गा अँधियार रैनि मसि छूटी ।
भा भिनसार किरन रवि फूटी ॥
'अस्ति' 'अस्ति' सब साथी बोले ।
अंधो अहे नैन विधि खोले ॥
कँवल विगस तहँ बिहँसी देही ।
भौंर दसन होइ के रस लेही ॥
हँसहि हंस और करहि किरोरा ।
चुनहि रतन मुक्काहल हीरा ॥
जो अस आव साध तप जोगू ।
पूजे आसमान तप भोगू ॥
और जो मनसा मानसर लीन्ह कवल रस आइ ।
धुन जो हियाव न कै सका झूर काठ तस खाइ ॥"

इनसे भी अधिक रहस्यात्मक वर्णन सिंहलगढ के है। ये अपने यौगिक संकेत के कारण बहुत अधिक रहस्यात्मक हो गए हैं। ऊपर दूसरे प्रसग में उनका उल्लेख किया जा चुका है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी ने अपनी रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति में प्रकृति से बड़ी सहायता ली है। उनका प्रकृतिपरक रहस्यवाद कम सुन्दर नहीं है।

जायसी का प्रेममूलक रहस्यवाद

जायसी भारतीय सूफी थे। उनमें एक ओर तो सूफियों का मादन भाव और कोमलतम भावना के लौकिक तथा अलौकिक पक्ष के चित्र मिलते हैं और दूसरी ओर उनमें भारतीय अद्वैतवाद की अभिव्यक्ति भी पाई जाती है। पहले हम जायसी के मादन भाव जनित परिस्थितियों चित्रो आदि का उद्घाटन करेंगे। बाद में उनके रहस्यवाद के अद्वैतवादी पक्ष पर विचार करेंगे।

प्रेम तत्त्व—सूफियों में मादन भाव की अभिव्यक्ति सुरति और सुरा के रूप में पाई जाती है। पहले हम इनके सुरति पक्ष पर विचार करेंगे। सूफियो, ने जिनमें राबिया, रूमी और हल्लाज आदि प्रमुख है, साधना में प्रेम-तत्त्व को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। इस प्रेम-तत्त्व का वर्णन करते हुए रूमी ने लिखा है —

Love, love alone can kill what seemed so dead
The frozen snake of passion, love alone,
By tearful prayer and fairy longing fed,
Reveals a knowledge schools have never known[1]

अर्थात् प्रेम ही वासना के भयंकर सर्प का विनाशक होता है। वही हमें उस ज्ञान के द्वार पर ले जाता है जिसकी प्राप्ति किसी पाठशाला

[1] Rumi Poet and Mystic by Nicholson on page 29

से नही हो सकती। एक दूसरे स्थल पर वे फिर लिखते हैं

"'Tis the flame of love that fired me
'Tis the wine of love that inspired me,
Wouldst thou learn hath lovers bleed,
Hearken, hearken to the reed,"[1]

अर्थात् प्रेम की ज्वाला ने ही मुझको प्रज्वलित किया है। उसकी सुरा ने ही मुझको पागल बनाया है। तुम नरकुल के गाने को सुनकर सीख लो कि प्रेमी किस प्रकार अपना रक्त बहाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सूफियो में प्रेम तत्त्व की बडी मान्यता है। इस प्रेम तत्त्व का स्वरूप दाम्पत्य ही है। यह बात राबिया की इस उक्ति से प्रकट है, "हे नाथ! तारे चमक रहे हैं। लोगो की आँखें मुद चुकी है। सम्राटो ने अपने द्वार बन्द कर लिए हैं। प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रिया के साथ एकात सेवन कर रहा है और मैं यहाँ आपके साथ अकेली हूँ।"[2]

इस दाम्पत्य-प्रेम के दो पक्ष होते हैं—लौकिक और अलौकिक। यह बात राबिया की निम्नलिखित उक्ति से प्रकट है—"हे नाथ! मैं आपको द्विधा प्रेम करती हूँ। एक तो मेरा यह स्वार्थ है कि मैं आपके अतिरिक्त अन्य की कामना नही करती। दूसरे मेरा यह परमार्थ है कि आप मेरे पर्दे को मेरी आँखो के सामने से हटा देते है ताकि मैं आपका साक्षात्कार करके आपकी सुरति में निमग्न हो सकूँ।"

सूफी रहस्य-भावना के मूल में राबिया, और रूमी का यही प्रेम-तत्त्व है। जायसी भी सूफी थे। इनकी रहस्य-भावना का मूलाधार भी यही प्रेम-तत्त्व है। इसे प्रेम-तत्त्व की महिमा का वर्णन उन्होंने शतशः किया है। राबिया ने प्रेम के समान जायसी का प्रेम भी लौकिक और

---

१ Rumi Poet & Mystic page 31

२ राबिया दि मिस्टिक पृष्ठ-२७।

अलौकिक होती ही था। उनका लौकिक पक्ष पद्मावती में नख-शिख-वर्णन और संयोग-शृंगार में पूर्णतया स्पष्ट है। स्नान-प्रसंग पर पाए जाने वाली—"अधिक काम दाधे सो रामा"—ऐसी पंक्तियाँ इस बात का ही प्रमाण हैं। किन्तु उनका यह लौकिक प्रेम सदा ही लौकिक नहीं रहता। वह साधना की अनिवार्यता से अलौकिक हो जाता है। इसीलिए उन्होंने लिखा है—

"मानुष प्रेम भयो बैकुण्ठी।
नाहित काह छार भर मूठी॥"

इस बैकुण्ठी प्रेम के सम्बन्ध में ही उन्होंने लिखा है—

"लेसा हिये प्रेम कर दीया।
उठी जोति भा निरमल हीया॥"

यह आध्यात्मिक प्रेम त्याग में ही सुशोभित होता है। तभी तो जायसी ने लिखा है—

"कठिन प्रेम सिर देइ तौ छाजा।"

किन्तु इस प्रेम की कठिन साधना करने वाला दोनों लोकों से मुक्त हो जाता है-

"भलेहि प्रेम है कठिन दुहेला।
दुइ जग तरा प्रेम जेहि खेला॥"

वे इस आध्यात्मिक प्रेम के बिना वे जीवन को निरर्थक मानते थे उनका कहना था कि—

"जो नहिं सीस प्रेम पथ लावा।
सो पृथवी में काहे को आवा॥"

इस प्रेम-वेदना की अनुभूति सबको नहीं होती। यह गूंगे के गुड के समान है। इसका रहस्य वही जानता है जिसने इसकी अनुभूति कर ली है।

"प्रेम घाव दुख जान न कोई ।
जेहि लागैं जानै पै सोई ।।"

इसकी स्थिति मृत्यु से भी भयकर होती है —

"कठिन मरन ते प्रेम-व्यवस्था ।
न जिउ जियै न दसम अवस्था ।।"

यह आध्यात्मिक प्रेम ज्ञान से कहीं ऊँची वस्तु है—

"ज्ञान द्रष्टि सों जाइ पहूँचा ।
प्रेम अदिस्ट गगन तै ऊँचा ।।"

इस आध्यात्मिक प्रेम को प्राप्त करके साधक दिन-दिन 'दूबर' होता जाता है—

"जेहि तन प्रेम कहाँ तेहिं माँसू ।
कया नहिं रकत नयन नहिं आँसू ।।"

इस प्रकार के आध्यात्मिक प्रेम से जो प्राणी दग्ध होता है, वही धन्य है —

"प्रेम जो दाधा धनि वोइ जीऊ ।"

ऐसे व्यक्ति के लिए अग्नि भी चदन के समान शीतल हो जाती है —

"जेहि जिय प्रेम चंदनि तेहि आगी ।"

यह प्रेम साधक के लिए सच्ची सुरा भी है —

"प्रेम सुरा जेहि के हिय माँहा ।
किन बैठे महुआ के छाँहा ।।"

इस प्रेम-सुरा पीने के बाद मृत्यु और जीवन का भय नहीं रहता —

"सुन धनि प्रेम सुरा के पिए ।
जियन मरन डर रहे न हिए।।"

यह प्रेम आध्यात्मिक विरह से भी अनुगंमित रहता है —

"प्रीति बेल सग है विरह अपारा।"

इस विरह में भी अमृत रस होता है —

"प्रेमहि माँह विरह रस रसा।
मैनके घर मधु अमृत बसा॥"

इस प्रकार जायसी ने अपने पद्मावत में लौकिक प्रेम-तत्त्व की अलौकिकता का रूप प्रदान करके उसकी रहस्यात्मकता की सुन्दर व्यंजना की है।

सौन्दर्य—इस प्रेम-तत्त्व के उदय का मूल कारण सूफियों ने यह सौन्दर्य-तत्त्व ही माना है। रूमी ने लिखा है —

Love will not let his faithful servants tire,
Immortal beauty draws them on and on,
From glory into glory, drawing nigher,
At each remove and loving to be drawn,[1]

रूमी के अतिरिक्त सूफी इन्ने निया और महाकवि जायसी का सौंदर्यवाद भी कम प्रसिद्ध नहीं है जिस सौन्दर्य की प्रतिष्ठा इन सूफी सतों ने की है वह आध्यात्मिक है। किन्तु उसका वर्णन उन्होंने लौकिक ढंग पर ही किया है। रहस्यवाद के अन्तर्गत उनमें सौन्दर्य का अलौकिक एवं आध्यात्मिक पक्ष ही आयगा। सौन्दर्य का लौकिक पक्ष उन्हें शृङ्गारिक कवि कहने के लिए प्रेरित करता है किन्तु उन सूफियों को शृङ्गारिक कहना उनके प्रति अन्याय करना होगा। उन्होंने लौकिक शृङ्गार का आश्रय आध्यात्मिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के हेतु ही किया है। उनका प्रसिद्ध सिद्धांत "परदे-बुतों में नूरे खुदा देखते हैं"। अतएव उनके लिए आध्यात्मिक सौन्दर्य की व्यञ्जना के हेतु लौकिक सौन्दर्य का वर्णन करना एक प्रकार से आवश्यक था। उसे हम उनका साध्य नहीं कह

१. Rumi Poet and Mystic, P. 30

सकते—वह केवल आध्यात्मिक सौन्दर्य के उद्घाटन का साधन-मात्र है। अतएव हम उन्हें उनकी शृङ्गारिकता के लिए दोषी नही ठहरा सकते।

जायसी ने रहस्यमय आध्यात्मिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति 'पद्मावत' में अनेक स्थलो पर की है। इस अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने कहीं पर तो समासोक्ति का आश्रय लिया है, कही विराट् आरोपण का कही-कही उत्प्रेक्षाओ के सहारे भी उसकी मार्मिक व्यञ्जना की गई है।

यद्यपि कि जायसी ने अपने काव्य को अन्योक्ति ध्वनित करने की चेष्टा की है, किन्तु उनमें अन्योक्ति से कही अधिक सुन्दर समासोक्तियो की छटा दिखलाई पडती है। अपने रहस्यात्मक दिव्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति इन्होने समासोक्तियो के सहारे बडे सुन्दर ढग से की है। निम्नलिखित पक्तियो में देखिए उस दिव्य सौन्दर्य की ओर कैसी ध्वन्यात्मक शैली में सकेत किया गया है —

"देखि मानसर रूप सुहावा।
हिय हुलास पुरइनि होइ छावा॥
गा अँधियार रैनि मसि छूटी।
भा भिनसार किरनि रवि फूटी॥"

समासोक्तियो के अतिरिक्त जायसी ने व्यष्टि का समष्टि में आरोप करके भी सौन्दर्य की आध्यात्मिकता व्यजित की है। नायिका अपने बालो को खोलकर जब झाडती है तब सारे विश्व में अधकार छा जाता है —

"बेनी छोरि झारि जो बारा।
सरग पतार होइ अँधियारा॥"

इसी तरह से एक दूसरे स्थल पर उन्होने पद्मावती को विराट् ब्रह्म के रूप में कल्पित करके प्रतिबिम्बवाद के सहारे उसके सौन्दर्य की विश्वव्यापकता ध्वनित की है। वे पक्तियाँ इस प्रकार हैं —

"बिकसा कुमुद देखि ससि रेखा।
भई तह ओप जहाँ जोहि देखा॥

पावा रूप रूप जस चाहा।
ससि मुख जनु दर्पन होइ रहा॥
नैन जो देखा कँवल भा निर्मल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर॥"

इन पंक्तियों में उन्होंने प्रतिबिम्बवाद के सहारे जामी और इब्नेसिना के सौन्दर्यवाद का बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। विराट् ब्रह्म रूपिणी पद्मिनी पारस रूपिणी है। उसके स्पर्श का लाभ करके विश्व के समस्त पदार्थ वांछित सौन्दर्य को प्राप्त करते हैं। विश्व के समस्त सुन्दर पदार्थ उसी विराट् सौन्दर्य के अंग-प्रत्यंग का प्रतिबिम्ब हैं। इस आध्यात्मिक सौन्दर्य में मानव को भाव-विभोर करके समाधि की स्थिति में ले जाने की एक विचित्र क्षमता है। इस दिव्य सौन्दर्य का वर्णन सुनकर ही राजा रत्नसेन मूर्छित हो जाता है —

"सुनतहि राजा गा मुरझाई।
जानौं लहरि सुरज कै आई॥"

इस आध्यात्मिक सौन्दर्य का प्रभाव प्रकृति पर बड़ा ही मादक और आह्लादमय दिखाई पड़ता है —

"देखि मानसर रूप सुहावा।
हिय हुलास पुरइन होइ छावा॥"

इसमें अज्ञान के अंधकार को नष्ट करके ज्ञान की ज्योति को ज्योतित करने की क्षमता पाई जाती है। आस्तिकता का वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

"गा अँधियार रैन मसि छूटी।
भा भिनसार किरन रवि फूटी॥
'अस्ति' अस्ति' सब साथी बोले।"

'पद्मावत' में आए हुए उपर्युक्त ढंग के दिव्य एवं आध्यात्मिक सौदर्य-सम्बन्धी समस्त अवतरण रहस्यवाद के ही अन्तर्गत लिये जायेंगे। यहाँ

पर विस्तार भय के कारण सौन्दर्य-सम्बन्धी समस्त अवतरणों का उल्लेख नहीं किया जा सका है।।

आस्तिकता—हम ऊपर ध्वनित कर चुके है कि दिव्य सौन्दर्य ही साधक में पूर्ण आस्तिकता का सचार करता है। जायसी ने उपर्युक्त अवतरण में यही बात कही है। रहस्यवादी साधक का आस्तिक होना नितान्त आवश्यक होता है। जायसी भी कट्टर आस्तिक थे। इसका पुष्ट प्रमाण यही है कि उन्होने 'पद्मावत' के प्रारम्भ में ही एक परमेश्वर की वन्दना की है—

"वन्दौ आदि एक करतारू।
जेहि जिय दीन कीन्ह संसारू॥"

उपास्य—यहाँ पर अब हम थोड़ा-सा उनके उपास्य स्वरूप के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना चाहते हैं। जायसी सूफी थे। सूफी लोग एकेश्वरी अद्वैतवाद में विश्वास करते हैं। सूफियो का उपास्य भक्तो के उपास्य से भिन्न होता है। भक्त लोग ब्रह्म के आधिदैविक स्वरूप में आस्था रखते हैं। ज्ञानी उसके आध्यात्मिक पक्ष का निरूपण करते हैं। सूफियों का उपास्य इन दोनो से भिन्न होता है वह आधिदैविक भी होता है—इस अर्थ में कि उसकी उपासना की जाती है, वह आध्यात्मिक भी होता है। इस दृष्टि से वह निर्द्वन्द्व सत्य है जो सर्वथा अभिव्यक्ति से परे कहा जा सकता है। निकलसन ने रूमी की मसनवी के अनुवाद की भूमिका में सूफियों के उपास्य के स्वरूप को उपर्युक्त ढग से ही स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। वह लिखते हैं—

God is Faith imminent in the sense thal he appears under the aspect of limitation in the all phenomenal forms and transcedental in the sense that he is the absolute reality above and beyond

appearance[1]

जायसी का उपास्य प्रेम और सौन्दर्य स्वरूपी विराट् ब्रह्म प्रतीत होता है जिसकी अभिव्यक्ति पद्मावती के प्रतीक से की हुई जान पड़ती है। जहाँ कहीं भी कवि को पद्मावती के वर्णन का अवसर मिला है वहाँ पर उसने प्रेम और सौन्दर्य तत्त्व की ही मार्मिक व्यञ्जना की है। इस प्रेम और सौन्दर्य को उन्होंने विश्व-व्यापी चित्रित करके अपने उपास्य की विराट् स्थिति का संकेत किया है। उनके इस विराट् उपास्य की स्थिति विश्व के कोने-कोने में है। पद्मावती के निम्नलिखित वर्णन में सौन्दर्य स्वरूपी विराट् तत्त्व की अभिव्यक्ति इस प्रकार की गई है—

"सरवर तीर पद्मनी आई। खोपा छोर केस मुकलाई॥
ससि मुख अंग मलय गिरि वासा। नागिन झाँपि लीन्ह चहुँपासा॥
उनई घटा परी जग छाँहा। ससि के सरन लीन्ह जनु राहा॥
छपि गै दिनहिं भानु कै दसा। लेइ निसि नखत चाँद परगसा॥
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महँ चंद देखावा॥
दसन दामिनी, कोकिल भाखी। भौंहैं धनुख गगन लेइ राखी॥
नैन खञ्जन दुइ केलि करेहीं। कुच नारंग मधुकर रस लेहीं।
सरवर रूप विमोहा, हिय हिलोरहि लेइ।
पाव छुवै मकु पावौं एहि मिस लहरहि देइ॥"

सौन्दर्य का यही विराट् स्वरूप, जिसकी व्यञ्जना पद्मावती के प्रतीक से की गई है, जायसी का आराध्यस्वरूप था इस दृष्टि से उन्हें रत्नसेन की अनुयायी कह सकते हैं। जायसी का यह विराट् सौन्दर्य वर्णन वेदों के विराट् ब्रह्म-वर्णन से जिसका अनुसरण कबीर ने भी किया है सर्वथा भिन्न है। वेदों का विराट् ब्रह्म—सहस्रबाहु, सहस्रपाद, सहस्रशीर्ष स्वरूपी है। किन्तु जायसी का विराट उपास्य शुद्ध सौन्दर्यस्वरूपी है।

१ Nicholson's Rumi Poet Mystics Introduction page 23.

उसमें मूर्तिमत्ता की जो छाया दिखलाई पड़ती है। वह केवल प्रतीक-योजना के कारण है। उनके उपास्य स्वरूप के सम्बन्ध में एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। उन्होने ब्रह्मरूप की कल्पना नारी रूप में की है। इसका कारण यह था कि लौकिक सौन्दर्य नारी-रूप में ही सम्भवत अपनी पराकाष्ठा पर पाया जाता है। इसीलिए उन्होंनें अपने उपास्य रूप को स्पष्ट करने के लिए सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी पद्मिनी को ही प्रतीक रूप में चुना। इस प्रकार हम देखते है कि जायसी का रहस्यमय उपास्य प्रेम और सौन्दर्य की रहस्यमयता का सरस इतिहास है। उसकी छटा "सुनि-मण्डल" में ही फैलकर नही रह जाती उसके प्रकाश से सारा ब्रह्माड प्रकाशित है। विश्व की समस्त सुन्दर विभूतियाँ उसीसे सुन्दर है। अण्डर हिल ने रहस्यवादी उपास्य की चार प्रमुख विशेषताएँ बतलाई है। उसके मतानुसार — "The absolute of the mystic is lovable, attaindable, alive and personal" जायसी ने अपने उपास्य में यह सभी विशेषताएं प्रतिष्ठित की है। वह विश्व-व्यापी और अखण्ड सौन्दर्य रूप होने के कारण (Absolute) है। स्त्री प्रतीक द्वारा अभिव्यक्ति किये जाने के कारण (Lovable) है तथा प्रेम और सौन्दर्यमय होने के कारण सजीव भी हैं। उन्होने सारे विश्व में उसका आरोप करके उसे एक अपनापन दे दिया है। जिसके कारण हम यह भी कह सकते है कि उनका उपास्य विश्व-व्यापी होते हुए भी व्यक्तित्व विशिष्ट है। सक्षेप में जायसी के रहस्यवादी उपास्य का यही स्वरूप हैं।

जायसी, रोसेटी, ब्राउनिंग और शैली.—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जायसी प्रेम और सौन्दर्य विशिष्ट रहस्यवादी थे। अंग्रेजी में शैली, ब्राउनिंग आदि इसी कोटि के रहस्यवादी हैं। अंग्रेजी कवि रोसेटी भी ऐसा ही रहस्यवादी है। उसके रहस्यवाद में प्रेम के वासनात्मक स्वरूप की भी यत्र-तत्र अभिव्यक्ति मिलती है। रोसेटी की यह

विशेषता जायसी में भी पाई जाती है। इसका सकेत हम पहले भी कर चुके है। जायसी की सौन्दर्य भावना शेली की सौन्दर्य भावना से मिलती जुलती है। शेली को आदर्श सौन्दर्य मे विश्वास था जायसी भी उसी आदर्श सौन्दर्य के उपासक थे। शेली के "हिम टु इण्टेलेक्चुअल विऊटी" में इसी आदर्श- सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की गई है। जायसी ने पद्मावती सौन्दर्य चित्रण में विशेषकर मानसरोवर के अंतिम अवतरण में इसी आदर्शवादी सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की है। जायसी शैली से एक बात में और मिलते-जुलते मालूम पडते है। शेली का विश्वास था—"the great secret of moral is love" इस विश्वास की अभिव्यक्ति जायसी में भी पाई जाती है। उनके मतानुसार सौन्दर्य ही समस्त नैतिकता एव आस्तिकता की आधार-भूमि है। यह बात उनकी निम्नलिखित पक्तियो से प्रकट होती है—

"देखि मानसर रूप सुहावा। हिय हुलास पुरइन होइ छावा॥
गा अँधियार रैन मसि छूटी। भा भिनसार किरन रवि फूटी॥"

जायसी के सौन्दर्य-चित्रण में एक बात ब्राउनिंग की भी पाई जाती है। ब्राउनिंग विश्व के समस्त पदार्थो में उसी ईश्वर के दर्शन करता था। उसने बार-बार लिखा है—

God in seen in the star, in the stone, in the flesh in the soul etc.

ब्राउनिंग के समान जायसी भी विश्व के कण-कण में अपने प्रियतम की झाँकी देखते थे। दोनो में केवल अन्तर इतना ही है कि ब्राउनिंग की अनुभूति बहुत-कुछ कवि की अनुभूति है, और जायसी में साधना की प्रधानता दिखलाई पडती है। इसीलिए उनकी अनुभूति एक साधक की अनुभूति है। उन्होंने सृष्टि के समस्त पदार्थो को साधना में सलग्न चित्रित किया है—

"धाय जो बाजा कै मन साधा।
मारा चक्र भयउ दुइ साधा॥"

जायसी का ब्राउनिंग से एक बात और साम्य दिखलाई पड़ता है। जिस प्रकार ब्राउनिंग प्रेम को जीवन का मूल तत्व मानता था, उसी प्रकार जायसी भी प्रेम को जीवित रहने का एक मात्र साधन समझते थे। 'ए डेथ इन द डिजर्ट" नामक कविता में ब्राउनिंग ने लिखा है—

For life with all it yifelds gay alone. And hope and fear is just our chance of the prize of the learning love.[१]

ब्राउनिंग के सम्मान ही जायसी ने भी लिखा है—

"तीनि लोक चौदह खण्ड सबै परै मोहि सूझि।
प्रेम छाड़ि नहि लोन किछु, जो देखा मन बूझि॥"

इस प्रकार हम देखते है कि जायसी अंग्रेजी के प्रेम-प्रधान रहस्यवादियो से भी कुछ दृष्टियो में मिलते-जुलते है। हिन्दी के सूफी कवियो को छोड़कर जायसी के समान रहस्यवादी बहुत कम है।

रहस्यवाद के *क्रियात्मक पक्षः*—अब हम जायसी के प्रेममूलक रहस्यवाद के क्रियात्मक पक्ष पर विचार करेंगे।

प्रेममूलक रहस्यवाद वास्तव में कोई सिद्धान्त मात्र नही है। हमारी समझ में वह उस प्रियतम तक पहुँचने का भावना-मय मार्ग के साधकरूपी पथिक की अनुभूतियो का प्रकाशन है।—वाहन (vanghan) ने अपने "अवर्स विद दि मिस्टिक्स' के प्रथम खण्ड के ८८ वें पृष्ठ पर हमारे इसी मत का समर्थन सा किया है। उसने लिखा है—

There are different roads by which this and (apprehension of the infinita) may be reached

१ 'मिस्टिसिज्म इन इङ्गलिश लिटरेचर', पृष्ठ ४१।

The love of beauty which exallsrhe poet. etc [1]

जब रहस्यवाद उस प्रियतम तक पहुँचने का प्रयत्न करने वाले साधक की मधुर साधनाओं का इतिहास है तो फिर हमें उस साधना क्रम को भी समझना पड़ेगा।

जागरण की स्थितिः—रहस्यवादी की साधना भावना या प्रेम के सहारे अग्रसर होती है। यह भावना पर प्रेम साधक में गुरु की कृपा से या पूर्वजन्म के पुण्यों के प्रताप से ही उत्पन्न होता है। यह ईश्वर प्रदत्त देन है जिसे पाकर मानव कृतकृत्य हो जाता है। हृदय में इसकी जागृति होते ही आध्यात्मिक सौन्दर्य की अनुभूति बढ जाती है। साधक को सर्वत्र उसी सौन्दर्य की व्याप्ति दिखलाई पडती है। विश्व का कण-कण उसे उसी सौन्दर्य से सुन्दर प्रतीत होता है। इस सौन्दर्य की परिचयात्मक अनुभूति होते ही साधक पागल हो उठता है। इसका परिचय गुरु करता है। जायसी ने निम्नलिखित पंक्तियों में इसी तथ्य की अभिव्यक्ति की है:—

"सुनतै राजा गा मुरझाई।
जानौं लहर सूरज कहिं आई॥"

गुरु से इस सौन्दर्य का परिचय पाकर साधक प्रेम की पीर से तड़प उठता है। इस पीर की अनुभूति भुक्तभोगी को ही होती है —

"पीरघाव दुख जान कोई।
जेहि लागै जानै पै सोई॥"

आंशिक अनुभूति की अवस्था—प्रेमानुभूति क्षण-भर के लिए साधक को एक विचित्र आंशिक अनुभूति की दशा में ले जाती है। उस दशा का वर्णन जायसी ने निम्नलिखित पंक्तियों में लिखा है—

"परा सो प्रेम समुद्र अपारा।
लहरहिं लहर होइ बिसभारा॥"

१.Hours With the Mystics By R.A Vaugan U.T.P

"विरह-भौर होइ भॉवर देई ।
खिन खिन जउ हिलोरा लेई ॥
खिनहि उसास बूड़ि जिउ जाई ।
खिनहि उटै निसरै बौराई ॥
खिनहि पीत, खिन होइ मुख सेता ।
खिनहि चेत, खिन होइ अचेता ॥
कठिन मरन ते प्रेम व्यवस्था ।
ना जिउ जिय, न दसव अवस्था ॥"

दोनों अवस्थाएँ—साधक की आंशिक अनुभूति की स्थिति अधिक देर नही टिक पाती; क्योंकि इस समय तक उसकी साधना अपूर्ण रहती है। उसका हृदय भी पूर्ण सिद्ध नही हो पाता है। शैतान और माया के विविध सगम उसे उस दैवी और आध्यात्मिक अनुभूति की रमणीय स्थिति से जगने के पश्चात् साधक बावला-सा दिखलाई देने लगता है। उस दैवी आनन्द के आगे उसे सासारिक वैभव फीके मालूम पडने लगते है, इसलिए वह वैराग्य और अदृष्ट हो जाता है और उसी अपनी दैविक अनुभूति की प्राप्ति के लिए तडफने लगता है। रहस्यवाद की इस स्थिति का चित्रण, जिसे हम अण्डरहिल के शब्दो में जागरण की अवस्था कहेगे, जायसी की निम्नलिखित पक्तियो में बडे सुन्दर ढग से किया गया है।

इन पक्तियो में जागरण की स्थिति के साथ-साथ आंशिक-अनुभूति की स्थिति का भी मिश्रण मिलता है —

"जब भा चेत, उठा बैरागा ।
बाउर जनौं सोइ उठि जागा ॥
आवत जग बालक जस रोआ ।
उठा रोइ हा ज्ञान सो खोआ ॥
हौं तो अहा मरन पुर जहाँ ।
इहाँ मरनपुर आएउँ कहाँ ॥

केइ उपकार मरन कर कीन्हा।
सकति हँकारि जीउ हरि लीन्हा॥
सोवत रहा जहाँ सुख-साखा।
कस न तहाँ सोवत बिधि राखा॥
अब जिउ उहाँ इहाँ तन सूना।
कब लगि रहै परान बिहूना॥
जौं जिउ घटहि काल के हाथा।
घट न नीक पै जीउ—निसाथा॥"

विरहावस्था—प्रेमभाव की इस प्रारम्भिक अनुभूति के जगने के पश्चात साधक में तीव्र आध्यात्मिक विरह की जागृति होती है। सूफी-साधना में इस आध्यात्मिक विरह का बड़ा ही महत्त्व है। जायसी भी सूफी थे, इसलिए उन्होंने भी विरह को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। उनका सारा काव्य इसी आध्यात्मिक विरह से व्याप्त दिखलाई पड़ता है। उन्होंने इस विरह का स्थान-स्थान पर आदर भी प्रतिपादन किया है। वे लिखते हैं —

"धनि विरही औ धनि हिया जहाँ अस अगिनि समाय।"

विरह की धार तलवार की धार से भी तेज होती है —

"जग महँ कठिन खड़ग कै धारा।
तेहिते अधिक विरह मैं झारा॥"

यदि यह विरह इतना कठिन न होता तो साधना-मार्ग ही सरल हो जाता है। और उस प्रियतम को सभी लोग पा जाते —

"अगम पंथ जो ऐस न होई।
साच किये पावै सब कोई॥"

यह विरह व्यक्ति विशेष का साधारण विरह नहीं है। वह प्रगाढ़ और महान् ज्वाला है, जिससे दृष्टि में समस्त पदार्थ जलते हुए दिखलाई पड़ते हैं —

"विरह की आगि सूरि जर काँपा।
राति दिवस जरहि उहि तापा॥
औ सब नखत तराईं जरई।
टूटे लूक धरति महँ परई॥
जरै सो धरती ठाहउँ ठाऊँ।"

विरह के वैयक्तिक पक्ष का भी कम धार्मिक वर्णन जायसी ने नहीं किया है। नागमती, पद्मावती और रत्नसेन के जो विरह-वर्णन हैं उनमें उनका वैयक्तिक रूप अधिक निखरा है। उनका विवेचन नागमती के विरह-वर्णन के अन्तर्गत किया जायगा। यहाँ पर विरह के समष्टिमूलक और आध्यात्मिक पक्ष का चित्रण करना ही हमारा उद्देश्य है। क्योंकि रहस्यवाद के अतर्गत विरह का यही आध्यात्मिक और समष्टिमूलक रूप आता है।

विरह के साधक के लिए परिष्करण भी प्रेरणा प्रदान करता है। सच तो यह है कि साधक रूपी कंचन विराट् रूपी अग्नि में विना तपे हुए निखरता ही नहीं है। तभी तो उस्मान ने लिखा है—

"विरह आगनि जरि कुन्दन होई।
निरमल तन पावै पै सोई॥"

जब विरह से साधक की आत्मा पवित्र होने लगती है तब वह हृदय शुद्धि-विधायक कुछ अन्य साधकों की ओर भी उन्मुख हो उठता है। भिन्न-भिन्न रहस्यवादियों ने परिष्करण के साधन के रूप में बहुत अलग-अलग साधनाएँ निर्देशित की है। किसी ने कुरान की शरायतों पर बल दिया है, किसी ने तरीकत नाम की स्थिति से गुजरने का उपदेश किया है। कोई मारफत के लिए तड़पता दिखलाई पड़ता है और कोई मारफत तक पहुँचने की चेष्टा में है।

इसी प्रकार किसी ने योग को महत्त्व दिया है किसी ने ज्ञान को आवश्यक ठहराया है। और कोई भक्ति-मार्ग पर चलता दिखलाई

पड़ता है। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से छोटे-छोटे साधन हैं जिनसे साधक अपनी आत्मा और हृदय को शुद्ध करके उस प्रियतम से मिलने के लिए प्रयत्नशील होता है। जहाँ तक जायसी का सम्बन्ध है, उन्होंने आत्मशुद्धि के साधकों में सहज योग और वैराग्य के साथ-साथ सूफियों के शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत सबको अपनाने की चेष्टा की है। इन सबसे अधिक उन्होंने सत् को महत्त्व दिया है। उनका दृढ़ निश्चय था कि *"चार बसेरों चढ़े सत सो उतरे पार।"* अर्थात् साधक सत की साधना करते हुए सूफियों के शरीयत, तरिकत, हकीकत और मारिफत नामक चार पड़ावों से गुजरता हुआ ही अपने प्रियतम तक पहुँच पाता है। जायसी ने साधना के रूप में आत्मानुभूतिमूलक सहयोग के प्रति भी श्रद्धा प्रकट की है। हठयोग के प्रति उन्हें बिलकुल श्रद्धा न थी। उन्होंने साफ लिखा है —

"पान्थ नाहि जूझ हठ कीन्हें।
जेहि पावा तेहि आपुहि चीन्हे॥"

जायसी में साधना के रूप में प्रपत्ति भावना को भी आश्रय दिया गया है। इस प्रपित्त भावना की अभिव्यक्ति मानसरोदक-खंड में की गई है। सरोवर पद्मावती के दिव्य रूप से मुग्ध हो उसके चरणों को छूना चाहता है —

"सरवर रूप बिमोहा हिये हिलोरै लेइ।
पाँव छुवै मकु पावों यहि मिष लहरैं देइ॥"

इसी खण्ड में दूसरे स्थान पर वे लिखते हैं —

"भा निरमल तिन पाइन परसें"

इन पंक्तियों से अच्छी तरह से स्पष्ट है कि जायसी की प्रपत्ति या शरणागत में पूर्ण आस्था थी।

विघ्न की अवस्था—आत्म-परिष्करण और साधना की स्थिति के पश्चात् विघ्नों की अवस्था आती है। अण्डरहिल ने रहस्यवादियों की

इस स्थिति को 'डार्क नाइट' कहा है। सूफियों का विश्वास है कि उस प्रियतम तक पहुँचने में शैतान बाधक होता है। भारतीय साधक शैतान के स्थान पर माया की कल्पना करते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि माया ही आत्मा और परमात्मा के रूप में बाधक है। माया का प्रतीक शैतान है। जायसी ने रहस्य-साधना की बाधा रूप में माया को ध्वनित किया है। माया के साथ उन्होंने उसके पंचविकार तथा विषय-विकारों को समेटने की भी चेष्टा की है। ज्ञानी-से-ज्ञानी मनुष्य भी इन विकारों तथा माया के इन्द्र-जाल में पड़कर बन्धन में बँध जाता है। यह बात जायसी ने निम्नलिखित पंक्तियों में तोते या पक्षी के रूपक से प्रकट की है—

"बधिका सुआ करन खल केली।
चूर पाखि मेलिस धर डेली॥
तहवाँ बहुत पखि खरभरही।
आपु-आपु महं रोदन करहीं॥
बिसदाना कित होत अगूरा।
जेहि भा मरन डहन धरि चूरा॥
जौं न होत चारा कै आसा।
कित चिरहार दुकत लेई लासा॥
यह विष चारे सब बुधि ठगी।
औ भा काल हाथ लेइ लगी॥
एहि झूठी माया मन भूला।
ज्यों पखी तैसे तन फूला॥"

जायसी ने साधना के बाधक रूप में काम-क्रोधादिक पंच विकारों को पाँच कोतवालों के रूपक से कई जगह संकेतित किया है —

"फिरहि पाँच कुतवाल सुभौरी।
काँपे पावँ चपत वा पौरी॥"

"अनचिन्ह पिउ काँपै मन माँहा ।
का मैं कहब गहब जौं बाँहा ॥
बारि बैस गइ प्रीति न जानी ।
तरुन भई मैमत भुलानी ॥
जोबन गरब न मै किछु चेता ।
नेह न जानौं साँव कि सेता ॥
अब सो कत जो पूछिहि बाता ।
कस मुख होइहि पीत की राता ॥"

इसी प्रकार उन्होने मिलन के पूर्व की परिस्थितियो के बड़े रमणीय चित्र प्रस्तुत किये है।

तादात्म्य की अवस्था.—रहस्यवाद की अन्तिम अवस्था साक्षात्कार या तादात्म्य की मानी जा सकती है। जायसी ने इस अवस्था के बहुत से मनोरम चित्र चित्रित किये है। इन चित्रो की योजना अधिकतर रूपको, अन्योक्तियो और प्रतीको के सहारे की गई है। साक्षात्कार की स्थिति के दो चित्र बहुत ही प्रसिद्ध और सुन्दर है। पहला चित्र मानसरोदक-खड में है। उसमे पद्मावती की कल्पना ब्रह्म के रूप में की गई है। सरोवर साधक के रूप में चित्रित किया गया है। वे पक्तियाँ इस प्रकार है—

"कहा मानसर चाह सो पाई ।
पारस-रूप इहाँ लगि आई ॥
मलय-समीर बास तन आई ।
भा सीतल, गै तपनि बुझाई ॥
न जानौं कौन पौन लेइ आवा ।
पुन्य-दसा भै पाप गँवावा ॥
ततखन हार बेगि उतिराना ।
पावा सखिन्ह चन्द बिहसाना ॥

बिगसा कुमुद देखि ससि-रेखा।
मैं तहँ ओप जहाँ जोइ देखा॥
पाश रूप रूप जस चहा।
ससि-मुख जनु दरपन होइ रहा॥
नयन जो देखा कंवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नगहीर॥"

यहाँ पर साधक और साध्य के साक्षात्कार की स्थिति का बड़ा ही रहस्यात्मक चित्र प्रस्तुत किया गया है। समासोक्ति, रूपकातिशयोक्ति आदि विविध अलंकारों के प्रयोग ने तथा साध्यवसाना गौड़ी लक्षणा-जनित लाक्षणिक अर्थ ने चित्रण को और भी अधिक रमणीय और साहित्यिक बना दिया है।

उपनिषदों में ब्रह्म-साक्षात्कार की स्थिति का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। एक उपनिषद् में लिखा है—

"भिद्यते हृदयग्रन्थी छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥"

अर्थात् उस परात्पर ब्रह्म से साक्षात्कार प्राप्त करते ही हृदय की अज्ञानमयी ग्रंथियाँ नष्ट हो जाती हैं। उसके सर्व संशय छिन्न हो जाते हैं। वह पापों से मुक्त हो जाता है। जायसी ने भी उपर्युक्त पंक्तियों में इन्हीं बातों का चित्रण किया है। वे इस दृष्टि से कबीर से मिलते-जुलते हैं। कबीर ने भी साक्षात्कार की दशा का कुछ ऐसा ही वर्णन किया है—

"हरि संगत सीतल भया,
मिटी मोह की ताप।
निस बासर सुख निधि लहा,
अन्तर प्रकटा आप॥"

इस चित्रण पर भारतीय मोक्ष-भावना का प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

एक दूसरे स्थल पर जायसी ने साक्षात्कार की स्थिति का और भी अधिक चित्रण किया है। उस स्थल पर वे मोक्ष-भावना के प्रति सूफियो से भी प्रभावित मालूम होते है। वे पक्तियाँ इस प्रकार है —

"देखि मानसर रूप सुहावा।
हिय हुलास पुरयिन हुइ छावा॥
गा अँधियार रैनि मसि छूटी।
भा भिनसार किरन रवि फूटी॥"

यहाँ पर कवि ने एक ओर तो सूफी भावना के अनुरूप दिव्य रूप के आनन्द-विधायक पक्ष का उद्‌घाटन किया है। दूसरी ओर भारतीय श्रुति ग्रन्थो के आधार पर उसने साक्षात्कार की स्थिति में अज्ञान के निराकरण और ज्ञान के उदय की बात भी कही है। इसी स्थल पर उन्होने रहस्यवाद की आधार-भूमि आस्तिकता के प्रति भी श्रद्धा प्रकट की है। जायसी के रहस्यवाद की यही विशेपता थी।

साक्षात्कार के बाद तादात्म्य या पूर्ण एकाकार की स्थिति आती है। जायसी सूफी थे। सूफी पूर्ण तादात्म्य की स्थिति में पूर्ण विश्वास नहीं करते। उन लोगो की धारणा है कि साधक और साध्य नीर-क्षीर की तरह कभी एक नही होते है। उनके इस मत का प्रकटीकरण निकल्सन ने अपने "आइडा आफ परसैनलिटी इन सूफिज्म" नामक ग्रन्थ में किया है। जायसी के 'पद्मावत' में कही पर भी तादात्म्य की उस स्थिति का वर्णन नही किया गया है जहाँ साधक और साध्य नीर-क्षीर के समान एक हो जाते है।

अद्वैतता अब हम जायसी के रहस्यवाद के प्रेम पक्ष से हटकर अध्यात्म पक्ष की ओर आते है। अनेक में एक के दर्शन करना रहस्यवादी अध्यात्म की प्रधान विशेपता है। इस्पर्जिन ने अपने 'मिस्टिसिज्म इन लिटरेचर' नामक ग्रन्थ मे लिखा है—

Mysticism is in truth a temper rather than a doctrine, an atmosphere rather than a system of Philosophy. Various mystical thinkers save contributed fresh aspects of truth as they have her for they have caught glimpses of her face at different angles, transfigured by diverse emotions so that their testimony, and in same respects their views, are dissimilar to the point of contradiction. Words worth, for instance gained his revelation of dignity through Nature and through Nature alone and where as to Blake Nature I was a hinderance and imagination the only reality. But all other agree in one respect in one passionate assertion and this is that unity underlies diversities This their starting point and their goal is the basic fact of Mysticism which in its widest sense may be described as an attitude of the mind founded upon and instutive or experienced convictions of unity of one ness, of alikeness in all things. From this source springs all Mystical thoughts and the Mystic of whatever age or country world say the words of Krishana:-

There is true knowledge
Learn there it is this,
To see one changeless life in all the lives,
And in the seperate inseperable.

Introduction page 3.

उपर्युक्त पंक्तियों में विद्वान् लेखक ने अनेकता में एकता के दर्शन को सब कालों और सब देशों के रहस्यवाद का मूल और प्राणभूत तत्त्व माना है। गीता के उद्धरण से उसने अपनी इस बात को पुष्ट भी

किया है। जायसी एक सच्चे रहस्यवादी कवि थे, अतएव रहस्यवाद के इस मूलभूत तत्त्व की अभिव्यक्ति उनके 'पद्मावत' में स्थल-स्थल पर मिलती है। अनेकता में एकता की इस अनुभूति की अभिव्यक्ति उन्होंने व्यष्टि में समष्टि के आरोप द्वारा की है। जहाँ कहीं भी उन्हें स्थान और समय मिला है उन्होंने व्यष्टिपरक लौकिक वर्णों में पर समष्टि का आरोप करके उन्हे अलौकिक रूप दे दिया है। इसके लिए उन्होंने समासोक्ति, रूपकातिशयोक्ति, हेतूत्प्रेक्षा, रूपक आदि का आश्रय लिया है—

"बिरह की आग सूर जर काँपा
रातिउ दिवस जरै उर तापा ॥
औ सब नखत तराईं जरईं।
टूटहि लूक धरति महँ परई ॥
जरहि सो धरती ठावहि ठाहूँ।
दहकि पलास जरै तेहि दाऊँ ॥"

साधना पक्ष का वर्णन करते हुए भी उन्होंने सृष्टि के समस्त पदार्थों को प्रियतम की साधना में चित्रित करके समष्टि भावना का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है —

"धाय जो बाजा के मन साजा।
मारा चक्र भयउ दुइ आधा ॥
पवन जाहि तहँ पहुँच चहा।
पारा तैस लोटि भुइ रहा ॥
अगिनि उठी, जरि उठी निआना।
धुआँ उठा, उठि बीच बिलाना ॥
पानि उठा, उठि जाई न छूआ।
बहुरा रोइ, आइ भुइ चूआ ॥"

रूप-वर्णन में जायसी ने अतिशयोक्ति के सहारे विराट् भाव को चित्रित करने की चेष्टा की है। उनकी नायिका जब वेणी खोलकर

बाल झाड़ती है, तब स्वर्ग और पाताल में अंधकार फैल जाता है—

"बेनी छोर झार जो बारा।
सरग पतार होइ अँधियारा ॥"

विराट् भावना के चित्रण के हेतु उन्होंने कहीं-कहीं हेतूत्प्रेक्षाओं का भी प्रयोग किया है। उदाहरण के रूप में निम्नलिखित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

"सहस किरन जो सुरुज दिपाई।
देखि ललार सोउ छिपि जाई ॥"

इस प्रकार उन्होंने विविध शैलीगत विधानों के सहारे अनेकता में एकता दिखलाने की चेष्टा की है। व्यष्टि में समष्टि के इस आरोप से, लौकिकता में अलौकिकता की इस प्रतिष्ठा से उनके रहस्यवाद में स्वर्ण-सुगंधि-संयोग उपस्थित हो गया है।

प्रतीक योजना.—अब हम थोड़ा-सा विचार जायसी की प्रतीक-पद्धति पर कर लेना चाहते हैं। जायसी सूफी थे। सूफी साहित्य प्रतीकों से भरा पड़ा है। चन्द्रबली पाण्डेय के शब्दों में—"सूफियों के रक्षक उनके प्रतीक ही रहे हैं। यों तो किसी भी भक्ति-भावना में प्रतीकों की प्रतिष्ठा होती है, पर वास्तव में तसव्वुफ में उनका पूरा प्रसार है। प्रतीक ही सूफी-साहित्य के राजा हैं।"

रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति में प्रतीक-पद्धति कई प्रकार से सहायक होती है। रहस्यमयी अनुभूतियाँ अनिर्वचनीय होती हैं। भाषा उन्हें अपनी सम्पूर्णता में अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहती है। इसके लिए साधक लोग तरह-तरह के प्रतीकों रूपकों, और समासोक्तियों की योजना किया करते हैं। अनिर्वचनीय को वचनीय बनाने के अतिरिक्त प्रतीक-विरोधी मतों के प्रखर खंडन और अप्रत्यक्ष खंडन में भी समर्थ होते हैं। फारिज[1] ने इसीलिए लिखा है कि प्रतीकों के प्रयोग ने दा

---

[1] Studies in 'Islamic Mysticism.' Page 233.

लाभ प्रत्यक्ष होते हैं—एक तो प्रतीकों की ओट लेने से धर्म-बाधा टल जाती है दूसरे उनके उपयोग से उन बातों की अभिव्यंजना भी खूब हो जाती है जिनके निदर्शन में वाणी असमर्थ अथवा मूक होती है। उन दो उपयोगों के अतिरिक्त प्रतीक-पद्धति एक तीसरे प्रकार से भी उपयोगी प्रतीत होती है। इनसे साहित्य में एक विचित्र सौन्दर्य आ जाता है। प्रतीक-पद्धति प्राय लक्षणा एवं व्यंजना के सहारे खड़ी रहती है। साहित्य का प्राण ध्वनि है। प्रतीकों के सहारे उस ध्वनि की मधुर व्यंजना हुआ करती है। इनसे काव्य में एक विचित्र रमणीयता आ जाती है। सच तो यह है कि अप्रस्तुतों की योजना के बिना काव्य नहीं रहता है। प्रतीकों में भी अप्रस्तुत योजना का ही रूपान्तर है। रहस्यवाद की आधार-भूमि भावना दिव्य प्रणय है। साधक उस दिव्य प्रणय की अभिव्यक्ति के लिए तड़पता रहता है, किन्तु असीम की अनुभूतियाँ अपनी सम्पूर्णता में व्यक्त नहीं की जा सकती। साथ ही उनको अनुभव करने वाला साधक उनकी रमणीयता और मधुरिमा से इतना अधिक मुग्ध रहता है कि वह उन्हें बिना अभिव्यक्त किये हुए रह भी नहीं सकता। इसके लिए वह उन लौकिक सम्बन्धों के प्रतीकों की योजना करता है जिनमें प्रणय की चरम परिणति पाई जाती है। लोक में प्रणय की चरम परिणति प्रेमी और प्रेमिका के प्रणय में पाई जाती है। पति और पत्नी का प्रेम भी कम तीव्र नहीं होता। किन्तु दोनों में अन्तर इतना है कि एक संयम की आधार-भूमि पर खड़ा रहता है दूसरा संयमहीन रहस्यमयता की आधार-भूमि पर। यही कारण है कि जो रहस्यवादी आदर्शवादी होते हैं वे पति-पत्नी के प्रतीकों की योजना करते हैं और जो कट्टर प्रेमवादी होते हैं वे प्रेमी और प्रेमिका के प्रतीकों की योजना करते हैं। जायसी ने मध्य मार्ग को ग्रहण किया। वे कट्टर प्रेमवादी होते हुए भी थोड़ा-बहुत भारतीय आदर्शवाद से भी प्रभावित थे। यही कारण है कि उनके 'पद्मावत' में रत्नसेन और

पद्मावती का प्रेमी और प्रेमिका के रूप में चित्रण किया गया है। बाद में वही प्रेम पति पत्नी के प्रेम में परिणत हो जाता है। पद्मावती पहले प्रेमिका थी, बाद में वह सती पत्नी बन गई। जायसी ने इसी दाम्पत्य-प्रतीक को अपनाने की चेष्टा की है, जिसमे वे अपनी अभिव्यक्ति में अच्छा सौन्दर्य ला सके हैं। इस दाम्पत्य-प्रतीक के अतिरिक्त जायसी ने सूर्य और चन्द्र के प्रतीको को भी अपनाने की चेष्टा की है। उन्होंने अनेक स्थलो पर पद्मावती को चन्द्र और रत्नसेन को सूर्य कहा है। कही-कही उन्होंने 'रतन पदारथ' के प्रतीको से भी रत्नसेन और पद्मावती का बोध कराया है।

अन्योक्तियाँ और समासोक्तियाँ —प्रतीक-योजना के अतिरिक्त जायसी ने रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति के लिए समासोक्तियो और अन्योक्तियो की भी योजना की है। इनका विस्तृत विवेचन हम जायसी के आध्यात्मिक रहस्यवाद का निरूपण करते समय कर चुके हैं। यहाँ पर प्रसगवश सकेत-मात्र कर देना चाहते हैं। समासोक्तियाँ एक-दूसरे से परस्पर भिन्न होती है। अन्योक्तियों में कवि अप्रस्तुत के सहारे प्रस्तुत का वर्णन करता है और समासोक्तियो में प्रस्तुत के सहारे अप्रस्तुत का सकेत करता है। जायसी में सफल अन्योक्तियाँ बहुत कम मिलती हैं। यद्यपि उन्होंने अपने काव्य को अन्योक्तिमूलक ही सिद्ध करने की चेष्टा की है किन्तु फिर भी उनमें अन्योक्ति के स्थान पर समासोक्ति का समावेश अधिक मालूम पडता है। 'पद्मावत' के अन्त में उन्होंने समस्त कथा को अन्योक्ति द्वाराध्वनित करने की चेष्टा की है। वे लिखते हैं—

तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल, बुधि पदमिनि चीन्हा।
गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा। बिन गुरु जगत को निरगुण पावा?
नागमती यह दुनिया-धन्धा। बाँचा सोइ न एहि चित बाँधा॥

राघव दूत सोई सैतानू । माला अनहदी सुलतानू ।
प्रेम-कथा एहि भाँति विचारहु । बूझि लेहु जौ बूझै पारहु ॥"

यद्यपि जायसी ने उपर्युक्त पक्तियो में पद्मावती की कथा को अन्योक्ति बतलाने की चेष्टा की है, किन्तु वे पद्मावत में सर्वत्र उसका निर्वाह नही कर सके है। उपर्युक्त पक्तियो में पद्मावती को बुद्धि माना है। इसके विपरीत उन्होने कही-कही रत्नसेन को चेला और पद्मावती को गुरु कहा है —

"पद्मावति के गुरु हौं चेला ।"

उपर्युक्त पक्तियो में उन्होनें तोते को 'गुरु' कहा है। इस प्रकार की प्रत्यक्ष विरोधी उक्तियाँ ही इनका प्रमाण है कि वे अन्योक्ति के निर्वाह में पूर्ण सफल नही हुए है। 'पद्मावत' मे समासोक्तियो की छटा बहुत सुन्दर दिखलाई पडती है। उसका कारण उनकी सकेतात्मक भाषा और शैली है। जैसे—

"जेहि वह पाई छाँह अनूपा ।
सो नहिं आय परै यहि कूपा ॥"

इनका विस्तृत उल्लेख हम पीछे कर चुके है, अत अब व्यर्थ का विस्तार नही करना चाहते ।

रूपकातिशयोक्तियाँ :—जायसी ने रूपको की योजना बहुत कम की है, किन्तु उनकी रूपकातिशयोक्ति बहुत सुन्दर है। इनके सहारे भी उन्होने कही-कही रहस्य-भावना की अच्छी अभिव्यक्ति की है। निम्नलिखित पक्तियों में देखिए उन्होने रूपकातिशयोक्ति के प्रयोग से रहस्य-भावना को कितना अधिक मार्मिक बना दिया है—

"बिकसा कुमुद देखि ससि रेखा । भई तहँ ओप जहाँ जेहि देखा ॥"

हेतूत्प्रेक्षाएँ.—रूपकातिशयोक्ति के अतिरिक्त रहस्य-भावना में जायसी की हेतूत्प्रेक्षा ने भी हाथ बटाया है। हेतूत्प्रेक्षा में कवि काल्पनिक हेतुओ की योजना करता है —

"रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती ॥"

इस पंक्ति में रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति हेतूत्प्रेक्षा के सहारे की गई है। यह हेतूत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति से पुष्ट होती है। इन दोनों का संकर भी स्पष्ट नहीं है, ध्वनित-मात्र है, जिससे अभिव्यक्ति में और भी अधिक सौन्दर्य आ गया है।

यौगिक रहस्यवाद

यद्यपि जायसी में भावना-प्रधान रहस्यवाद ही पाया जाता है, किन्तु तत्कालीन नाथ पंथियों के प्रभाव से उनमें यत्र-तत्र यौगिक रहस्यवाद की भी अभिव्यक्ति हो गई है। पिण्ड में ब्रह्माण्ड की कल्पना करना यौगिक रहस्यवाद की प्रधान विशेषता है। उपनिषदों और तन्त्र ग्रंथों में उलटी साधना की चर्चा की गई है। 'कठोपनिषद्' में एक स्थल पर इस उलटी चाल की चर्चा इस प्रकार की गई है —

"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ॥
कश्चिद्धीर प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥"

अर्थात् इन्द्रियों की प्रवृत्ति है कि वे अन्तर्मुखी हो जावें। इस अन्तर्मुखी साधना की अभिव्यक्ति और विकास धर्म-ग्रन्थों में कई प्रकार से देखा गया है। तन्त्र-ग्रन्थों में वर्णित कुण्डली उत्पादन की प्रक्रिया अन्तर्मुखी साधना से ही सम्बन्धित मानी जा सकती है। ब्रह्म रन्ध्र का वर्णन प्राय बड़े रहस्यात्मक ढंग से किया जाता है। इसके अतिरिक्त कभी कभी हठयौगिक साधना में विविध स्थलों पर विविध ध्वनियों विविध चित्रों आदि की योजना की जाती है। विविध चक्रों के वर्णन भी इसी अन्तर्मुखी साधना के अन्तर्गत आते हैं। जायसी ने हठयोग आदि के बड़े ही रहस्यात्मक चित्रण प्रस्तुत किये हैं। सिंहलगढ़ के वर्णन में ही उन्होंने हठयोग के रहस्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किये हैं।

हठयौगिक रहस्यवाद के रूप में निम्न लिखित पंक्तियाँ विचार-णीय है —

"निति गढ बाँचि चलै शसि सूरू। नाहि ते होय वाजि रथ चूरू।
पौरी नवौ वज्र कै साजी। सहस सहस तहँ बैठे पाजी॥
फिरहिं पाँच कोतवार सुभौंरी। काँपै पावैं चपत वह पौरी।
पौरिहि पौरि सिंह गढ़ि माढे। डरपहिं लोग देखि तहँ ठाढ़ै॥
बहु विधान वै नाहर गढ़े। जनु गाजहिं, चाहहि सिर चढ़ै।
टरहिं पूँछ पसारहि जीहा। कुंजर डरहिं कि गुञ्जरि लीहा॥"

अब यहाँ पर उपर्युक्त पंक्तियों की थोडी-सी विवेचना करके जायसी ने यौगिक रहस्यवाद को स्पष्ट करना देना चाहते है। यहाँ पर जायसी के सिंहल गढ को शरीर के रूपक से स्पष्ट करने की चेष्टा की है। जिस प्रकार शरीर में नव चक्र होते है, उसी प्रकार उस सिंहलगढ में नव द्वार है। जिस प्रकार शरीर के चक्र वज्र के समान अभेद होते हैं उसी प्रकार सिंहल गढ के नव द्वार भी अभेद्य है। इसी तरह जिस प्रकार चक्र-भेदन में साधक को पग-पग पर 'अनेक प्रकार के माया मद मनोविकार बाधक सिद्ध होते है और चक्रो का मर्दन नही होने देते है उसी प्रकार उस सिंहलगढ के प्रत्येक द्वार पर सैकडो 'पाजी' अर्थात् पैदल सिपाही प्रहरी के रूप में उसकी रक्षा करते है। कोई भी साधारण व्यक्ति उनमें प्रवेश नही पा सकता। इन सैकडो मायामय मनोविकारो के अतिरिक्त पच महा मनोविकार साधक को चक्र-भेदन में असफल बनाने की चेष्टा करते है। इधर गढ़ के प्रत्येक द्वार पर सैकडो पैदल सिपाहियो के ऊपर पाँच कोतवाल तैनात रहते है। ये साधारण व्यक्ति को उन द्वारो से प्रवेश नही करने देते। शरीर में जो चक्र पाए जाते हैं, उनमें से प्रत्येक की अधिष्ठात्री कोई-न-कोई देवी अवश्य होती है। देवी का वाहन सिंह है। चक्रो के द्वार पर ही देवी की उपस्थिति का द्योतक उनका वाहन सिंह वर्तमान रहता है जो साधक को चक्र का भेदन नही

करने देना। इधर गढ पक्ष में गढ के प्रत्येक द्वार पर सिंह चित्रित दिखाए गए हैं। वे सिंह इतने सजीव प्रतीत होते हैं कि उन्हें देखकर ऐसा लगता है कि मानो वे गरजकर अभी खा जायेंगे। इस चित्रण से जायसी ने अपने युग की स्थापत्य-कला की स्थिति की ओर भी संकेत किया है। इन नवो चक्रो में विविध दल होते हैं। इन दलो की समता जायसी ने द्वारो पर पाई जाने वाली स्वर्ण सीढ़ियों से की है। इस प्रकार गढ के रूपक से नव चक्रो का यहाँ पर बड़ा रहस्यात्मक वर्णन किया गया है। अब दशम द्वार के व्याज से ब्रह्मरन्ध्र का जो वर्णन किया गया है उसे देखिए: वह भी बडा ही रहस्यात्मक है जो कि इस प्रकार है —

"नव पौरी पर दसवं दुवारा। तेहि पर बाज राज-घरियारा॥
घरी सो बैठि गनै घरियारी। पहर पहर सो आपनि बारी॥
जबहीं घरी पूजि तेइँ मारा। घरी घरी घरियार पुकारा॥
परा जो डाँड जगत सब डाँडा। का निचित माटी कर भाँडा?
तुम्ह तेहि चाक चढ़े हौ काँचे। आएहु रहै न थिर होइ बाँचे॥
घरी जो भरी घटी तुम्ह आऊ। का निचित होइ सोउ बटाऊ?
पहरहिं पहर गाजर निति होई। हिया बजर, मन जाग न सोई॥"

यहाँ पर कवि ने सिंहलगढ़ में दसवें द्वार का वर्णन किया है। इस द्वार पर राज घड़ियाल बजा करता है। हठयौगिक अर्थ पक्ष में दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र का प्रतिरूप कहा जायगा। राज घरियार अनहद नाद का प्रतीक कहा जा सकता है। घरियारी को हम साधक मान सकते हैं जिस प्रकार घरियारी घड़ी रूपी जल-पात्र के पूर्ण रूप होने पर जो कि घटिका का द्योतक है, घरियारी अर्थात् घंटा बजाने वाला घंटा बजा देता है। इसी प्रकार प्रत्येक घंटे के बीतने पर घंट-ध्वनि होती है। इधर अनहद नाद श्रवण साधक में जब अग्रसर होता है तब उसे स्तर-स्तर पर तरह-तरह के नाद सुनाई पड़ते हैं। गढ के द्वार पर प्रत्येक

[illegible] इससे भी अधिक [illegible] इस प्रकार है —

"गढ़ पर नीर खीर दुइ नदी। पनिहारी जैसे दुरपदी।
और कुण्ड एक मोतीचूरू। पानी अमृत, कीच कपूरू॥
ओहि क पानि राजा पै पीया। बिरिध होइ नहिं जौ लहि जीया॥
कंचन बिरिछ एक तेहि पासा। जस कलपतरु इन्द्र कबिलासा॥
मूल पतार सरग ओहि साखा। अमर बेलि को पाव को चाखा।
चाँद पात औ फूल तराईं। होइ उजियार नगर जहँ ताईं॥
वह फल पावै तप करि कोई। बिरिध खाइ तौ जोबन होई॥

इस अवतरण में जायसी ने कुछ अधिक जटिल सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया है। पनिहारी साधक का प्रतीक है। 'गढ़ पर' शब्द ब्रह्माण्ड मस्तक का द्योतक है। 'नीर खीर' नामक दो नदियाँ सम्भवतः इड़ा और पिंगला की सूचक हैं। उसे दुरपदी इसलिए कहा गया है कि पाँच नाड़ियाँ योग में इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना और ब्रह्म नाड़ी हैं। कुण्ड ब्रह्मरन्ध्र का द्योतक प्रतीत होता है। उसके जल का पान करने वाला राजा राजयोगी का संकेतक है। ब्रह्मरन्ध्र में जो चन्द्र तत्त्व भरा करता है, वही अमृत है। उसे पान करने वाला अमर हो जाता है। कंचन वृक्ष हमारी समझ में ब्रह्म रन्ध्र में पाया जाने वाला द्वार है। 'मूल पतार' का भाव निम्नस्थ देश में स्थित मूला-

धार चक्र से है। चाँद का अर्थ ब्रह्मरन्ध्र में स्थित चन्द्र-तत्त्व से लिया जा सकता है। संक्षेप में इन पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार है—शरीर रूपी गढ के ऊपरी भाग में अर्थात् ब्रह्माण्ड में इडा और पिंगला नाम की दो प्रधान नाडियाँ है, जो नीर और क्षीर के सदृश अलग-अलग है। इन इडा और पिंगला की उद्भूत साधना का उपभोग करने वाला कोई हठ-योगी साधक ही होता है। वह इडा पिंगला और सुषुम्ना, चित्रा और वज्र आदि पच नाडियो की उपासना करने के कारण पंचपति उपासिका द्रोपदी के सदृश है। कुछ लोग पनिहारी का अर्थ सुषुम्ना नाडी भी लेते हैं। जिस प्रकार द्रोपदी के पाँच पति थे उसी प्रकार सुषुम्ना नाडी इडा, पिंगला, चित्रा और वज्रा आदि पच नाडियो का अधिकार रखती है। इसीलिए उसे द्रोपदी के सदृश कहा गया है। उसी ब्रह्माण्ड में ब्रह्मरन्ध्र है, जिसकी समता कुण्ड से की गई है। ब्रह्मरन्ध्र में अनिर्वचनीय सुषमा के दर्शन और अलौकिक रस की अनुभूति होती है। वहाँ साधक को विचित्र मधुमयी सुरति की अनुभूति भी होती है। जायसी ने "मोती चूरू" 'पानी अमृत' "कीच कपूरू" लिखकर ब्रह्मरन्ध्रान्तर्गत अनुभव होने वाले सौन्दर्य-सुरभि और रस आदि की अलौकिकता की ओर संकेत किया है। इस प्रकार के ब्रह्मरन्ध्र रूपी कुण्ड के जल का पान कोई राजा रूपी राजयोगी ही कर सकता है। इस ब्रह्म रन्ध्र के समीप सुषम्ना का मार्ग भी होता है जो प्रकाशमय वृक्षाकार-सा प्रतीत होता है। जायसी ने उसीको "कंचन बिरिछ" कहा है। उसकी समता उन्होंने इन्द्र-लोक के कल्पतरु से की है। इस सुषम्ना रूपी वृक्ष का मूल निम्नस्थ प्रदेश में स्थित मूलधार में रहता है। इस सुषुम्ना मूलाधार से उत्पन्न होकर ब्रह्मरन्ध्र तक फैली हुई अमर बेल के रस का पान कोई विरला ही कर पाता है। उस ब्रह्मरन्ध्र में चन्द्र-तत्त्व का प्रकाश रहता है। फूल के सदृश तारावलियो की छटा भी दिखलाई पडती है। सम्पूर्ण ब्रह्मरन्ध्र रूपी नगर इस अनिर्वचनीय प्रकाश से प्रका-

सित रहता है। इस अमर बेल के अमृतत्व रूपी फल को कोई विरला ही प्राप्त कर पाता है। इस अमृतत्व का लाभ प्राप्त करके वृद्ध भी युवा हो जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त पंक्तियों में जायसी ने हठयोग की अच्छी अभिव्यक्ति की है। ब्रह्मरन्ध्र के रहस्यात्मक वर्णन 'पद्मावत' में और कई स्थलों पर मिलते हैं। एक वर्णन सात समुद्र खंड में पाया जाता है। वह इस प्रकार है—

"देखि मानव रूप सुहावा। हिय हुलास पुरइन होई छावा॥
भा अँधियार रैन मसि छूटी।"

इस अवतरण की प्रायः सभी पंक्तियाँ यौगिक रहस्यवाद का ही सुन्दर स्वरूप कही जा सकती हैं।

योग का एक प्रमुख सिद्धान्त है कि जो ब्रह्म में है वही पिण्ड में है। जायसी ने गढ़ और पिण्ड की एकरूपता चित्रित करके योग के उसी रहस्यात्मक सिद्धान्त की ओर संकेत किया है—

"गढ़ तस बाँक जैस तोरी काया। पुरुष देखि ओही कै छाया॥
पाइय नाहि जूझ हाठ कीन्हें। जेइ पावा तेइ आपुहि चीन्हे॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा। औ तह फिरहि पाँच कोटवारा॥
दसवं दुआर गुपुत एकताका। अगम चढ़त, बाट सुठि बाँका॥
भेदै जाई सोई वह घाटी। जो लहि भेद, चढ़ै होइ चाँटी॥
गढ़तर कुण्ड, सुरंग तेहि माँहा। तहँ वह पंथ कहौं तेहि पाँहा॥
चोर बैठि जस सेंधि सँवारी। जुआ पैंत जस लाव जुआरी॥
जस मरजिया समुद धँस, हाथ आव तब सीप।
ढूँढ़ि लेइ जो सरग-दुआरी चढ़ै सो सिंहल दीप॥"

उपर्युक्त पंक्तियों में जायसी ने नौ चक्र तथा दशम द्वार ब्रह्म-रन्ध्र तथा तत्सम्बन्धी साधना का विस्तार से रहस्यात्मक वर्णन किया है। ब्रह्मरन्ध्र के वर्णन से सम्बन्धित निम्नलिखित पंक्तियाँ बहुत रहस्यात्मक मालूम होती हैं :—

"दस द्वार ता स कै लेखा। उलटि दिष्टि जो लास सो देखा॥"

इस प्रकार जायसी में अन्य स्थलों पर भी हठयोग से सम्बन्धित रहस्यात्मक वर्णन मिलते हैं।

जायसी के हठयोगिक, रहस्यवाद की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। वह कबीर के हठयोगिक रहस्यवाद थोड़ा भिन्न प्रतीत होता है। पहली बात तो यह है कि यह कबीर के हठयोगिक रहस्यवाद के सदृश अत्यधिक जटिल और दुरूह नहीं है। फिर उनमें कबीर-जैसी शुष्कता भी नहीं आने पाई है। कवि ने जहाँ कहीं भी हठयोग का वर्णन किया है वहाँ उसने राजयोग को ही अधिक महत्त्व दिया है। हठयोग के प्रति उनको विशेष श्रद्धा न थी। राजयोग का मार्ग अधिक जटिल नहीं है और न उतना शुष्क ही है। इसीसे उनका हठयोगिक रहस्यवाद भी अधिक कटु प्रतीत नहीं होता। जो भी हो इतना तो अवश्य है कि भावनात्मक रहस्यवाद के क्षीर-सागर में हठयोगिक रहस्यवाद के दो-चार स्थल काजी सीकर के सदृश प्रतीत होते हैं।

जायसी के रहस्यवाद की विशेषताएँ

जायसी के रहस्यवाद की प्राणभूत विशेषता 'प्रेम की पीर' है—

"मुहम्मद कवि यह जोरि सुनावा।
सुना सो पीर प्रेम कर पावा॥
जोरी लाइ रकत कै लेई।
गाढ़ि प्रीति नयनन जल भेई॥"

'प्रेम की पीर' के दो पक्ष विचारणीय हैं। एक तो प्रेम पक्ष, दूसरा पीर का। जायसी का रहस्यवाद प्रेम और पीर के मधुमय सुहाग का ही सुन्दर परिणाम है। प्रेम जायसी में रहस्यवाद का मूल स्वर है। उनका अनेक प्रकार का रहस्यवाद प्रेम और मधुर भावना से अनुप्राणित है। इस प्रेम-तत्त्व ने उनके रहस्यवाद को मधुर-से-मधुरतम बना दिया है।

उनके प्रेममूलक रहस्यवाद का विवेचन करते समय मैं उनके इस पक्ष का सम्यक उद्घाटन कर चुका हूँ। अत यहाँ पर अधिक विषय-विस्तार करना अनावश्यक है।

पीर प्रेम की चिर संगिनी है। जहाँ प्रेम है वहाँ पीर है। पीर से अभिप्राय है प्रेम-जनित विरह-वेदना का। जायसी ने स्पष्ट लिखा है कि प्रेम की वेल के साथ विरह सदैव वर्तमान रहता है इसी विरह से विश्व जलता रहता है—

"प्रीत वेलि सँग विरह अपारा।
सरग पतार जरै तेहि झारा॥"

यह प्रेम-जनित विरह-वेदना, प्रेम की यह पीर परिणाम में मधुर होती है—

"प्रीति वेलि अरुझै जब।
तब सुछाँह सुख-साख॥
मिलै पिरीतम आइकै।
दाख वेलि रस चाख॥"

II जायसी के रहस्यवाद में कहीं-कहीं लौकिकता और श्रृङ्गारिता बहुत अधिक मुखरित हो गई है। इसके परिणामस्वरूप उनकी रहस्य-भावना कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक ललित और विलासपूर्ण हो गई। सौन्दर्य-जनित आकर्षण ने उसे और भी अधिक और भावपूर्ण बना दिया है। उनके नख-शिख-प्रसग में जिस रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति हुई है वह अत्यधिक सुकोमल और वासनामय है। प्रेम-मूलक रहस्यवाद के अन्य पक्ष भी बहुत अधिक भावपूर्ण है। पीछे हम इनके अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर चुके हैं। यहाँ पर हम केवल एक प्रसग का संकेत करना चाहते है। नख-शिख-वर्णन में कवि ने समासोक्ति का आश्रय लेकर रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति की है। वह अगो का वर्णन करते-करते अव्यक्त की मधुर व्यञ्जना कर कर देते है। अङ्गो के वर्णन में कवि

ने कुचो के वर्णन में बहुत अधिक रस लिया है। कुचो के इन वर्णनो को पढकर सयमी का हृदय भी मचल उठता है। इसमें सयमी भी क्या करे जब वे स्वय ही 'हुलसि हिए हठ पूर्वक लगना चाहते हैं—

"हिये थार कुच कंचन लारू।
कनक कचोट उठे जनु चारू॥
कुदन बेल साजि जनु कूदे।
अमृत रतन मौन दुइ मूँदे॥
बेधे भौंर कट केतकी।
चाहहि बेध कीन्ह कंचुकी॥
जोबन बान लेहि नहिं बागा।
चाहहि हुलसि हिये हठ लागा॥
अगिनि बान दुई जानो साधे।
जग बेधहि जो होइ न बाधे॥"

उपर्युक्त आठ पक्तियो में तो वासनात्मक वर्णन किया गया है। अन्तिम दो पक्तियो में कुचो की विराट्ता तथा उनके विश्व-व्यापी प्रभाव की ओर सकेत करके कवि ने रहस्य-भावना की व्यञ्जना कर दी है। इसी प्रकार प्रेममूलक रहस्यवाद में अन्य स्थलो पर भी लौकिकता और वासनात्मकता की अतिरेकता दिखाई पडती है। इस प्रकार शृङ्गारिता और वासनात्मकता को हम जायसी के रहस्यवाद की दूसरी प्रधान विशेषता कह सकते है।

जायसी के रहस्यवाद की तीसरी प्रधान विशेषता उसका समष्टि-मूलकता है। जायसी ने व्यष्टिमूलक वर्णन करते हुए भी समष्टि पर उसका आरोप किया है। केवल दो-एक स्थल ऐसे है जहाँ व्यष्टिपरक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की गई है। यह वर्णन भी हठयौगिक है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित दो वर्णन ले सकते है—

(१) "गगन अकास अंस तोरि काया।
पुहुमि देखि ओही कै छाया॥
पाइय नाहि जूझि हठि कीन्हे।
जेइ पावा तेइ आपुहि चीन्हे॥

(२) नउ पौरी पर दसव दुवारा।
तेहि पर बाज राज घरियारा॥"

इसी ढंग के दो-चार रहस्यात्मक वर्णनों को छोड़कर जायसी ने सर्वत्र अपने रहस्यवाद की व्यंजना में समष्टि को माध्यम बनाया है। उन्होंने इसीलिए पद्मावती का चित्रण विराट् ब्रह्म के रूप में किया है। इसमें हमें सौन्दर्य, प्रेम, विरह-मिलन आदि के सैकड़ों समष्टिमूलक रहस्यमय चित्र मिलते हैं। इनसे सम्बन्धित अनेक उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। किन्तु यहाँ पर बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए दो-चार उदाहरण दे देना आवश्यक है। यों तो सौन्दर्य के समष्टिमूलक वर्णन जायसी में मिलते हैं किन्तु निम्नलिखित वर्णन में बहुत ही सुन्दर प्रतिबिम्बवाद ने उस वर्णन को और भी रहस्यपूर्ण बना दिया है—

"बिगसा कुमुद देखि शशि रेखा।
भै तह ओप जहाँ जेई देखा॥
पावा रूप रूप जस चाहा।
ससि मुख जनु दर्पन होइ रहा॥
नयन जो देखा कवल भा निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा दसन ज्योति नग हीर॥"

इसी प्रकार विरह का यह विश्व-व्यापी वर्णन देखिए—

"सुरज बूडि उठा होइ ताता।
और मजीठ टेसू बन राता॥
भा बसन्त राती बनस्पती।
औ राते सब जोगी जती॥

भूमि जो भीजि भएउ सब गेरू ।
औ सब भए रंगि पर्बत ॥
राती सती आगिनि सब काया ।
गगन मेघ राते तेहि छाया ॥"

एक दूसरे स्थल पर उन्होंने अन्तरिक्ष में बान की बिद्ध दिखाकर प्रेम की सर्वव्यापकता प्रकट की है—

"उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा ।
बेधि रहा सगरौं संसारा ॥
गगन नखत जो जाहि न गने ।
वै सब बान ओहि कै हने ॥
धरती बान बेधि सब राखी ।
साखी ठाढ़ देहिं सब साखी ॥"

इसी प्रकार जायसी ने सर्वत्र सर्वव्यापक रहस्य-भावना की व्यञ्जना की है। निस्सन्देह सर्वव्यापकता जायसी के रहस्यवाद की प्रधान विशेषता है।

जायसी के रहस्यवाद की अभिव्यक्ति का एक स्पष्ट लक्ष्य और उद्देश्य भी था। वह था सूफी मत और इस्लाम धर्म का प्रचार करना। प्रचार-भावना से प्रेरित होने के कारण उनका रहस्यवाद कहीं-कहीं सूफी सिद्धान्तों से बुरी तरह आक्रान्त हो गया है। ऐसी दशा में उसने कहीं-कहीं साम्प्रदायिक रूप धारण कर लिया है। निम्नलिखित दोहे में देखिए सूफी बातों का कैसा संकेत किया गया है—

"नवौ खंड नव पौरी ।
औ तहँ बज्र किवार ॥
चारि बसेरे सो चढ़ै ।
सत सो उतरै पार ॥"

इसी प्रकार उनके रहस्यवाद में स्थान-स्थान पर प्रचार-भावना अग्रणी दिखाई देती है।

जायसी में हमें रहस्यवाद की वहिर्प्रक्रिया की प्रधानता मिलती है। इसका प्रमुख कारण उसकी समष्टिमूलकता है। समष्टिमूलक रहस्य वाद की व्यञ्जना वहिर्प्रक्रिया के सहारे ही हो सकती है। क्योंकि उसमें व्यष्टि का विस्तार समष्टि दिखाना ही अपेक्षित होता है। व्यष्टि का समष्टि में पर्यवसित होना ही अद्वैतवाद है। इस प्रकार के अद्वैत-वाद की मधुर झाँकी जायसी के रहस्यवाद में जगह-जगह मिलती है अभी हम कई उदाहरण रहस्यवाद की समष्टिमूलकता दिखाते समय उद्धृत कर चुके हैं। वे सब रहस्यवाद की वहिर्प्रक्रिया और भावात्मक अद्वैतवाद के भी उदाहरण माने जा सकते हैं। अतः इनके दूसरे उदा-हरण प्रस्तुत करना अनावश्यक है।

जायसी का रहस्यवाद अधिकतर अन्योक्ति और समासोक्तियों के सहारे अभिव्यक्त किया गया है। समासोक्ति की स्थिति सांकेतिकता और ध्वनि पर आधारित होती है। यही कारण है कि जायसी का रहस्य-वाद बहुत-कुछ सांकेतिक और व्यञ्जनात्मक है। उदाहरण के लिए रहस्यमय लोक का यह व्यञ्जनात्मक उदाहरण देखिए—

"जेइ वह पाई छाँह अनूपा।
सो नहि आइ यह कूपा॥"

यह सांकेतिकता और व्यञ्जनात्कता उनके रहस्यवाद का प्राण है। संक्षेप में जायसी के रहस्यवाद की यही विशेषताएँ हैं। अपनी इन्ही विशेप-ताओं के कारण वह लोक में इतना मान्य और प्रतिष्ठित हो सका है।

तुलनात्मक विवेचन

रहस्यवाद का परिचय

रहस्यवाद का स्वरूप वास्तव में रहस्यमय है। बहुत-से लोग इसे एक दार्शनिक वाद समझते हैं, किन्तु यह दर्शन से बिलकुल भिन्न वस्तु है। इसे भारतीय भक्ति-मार्ग से भी भिन्न समझना चाहिए। प्रत्यक्ष तो इसमें भारतीय भक्ति-मार्ग के बहुत-से तत्त्व पाये जाते हैं, किन्तु दोनो में उपास्य-स्वरूप के सम्बन्ध में मौलिक अन्तर है। भक्त प्रधान रूप से भगवान् के आधिदैविक स्वरूप में विश्वास करता है। रहस्यवादी की साधना ब्रह्म के आध्यात्मिक स्वरूप से सम्बन्धित होती है। ब्रह्म के आध्यात्मिक स्वरूप की प्रतिष्ठा दर्शन में भी है, किन्तु रहस्यवाद का स्वरूप दर्शन के समान तर्क-मूलक और बुद्धि-प्रतिष्ठित न होकर भावना-विनिर्मित होता है। दर्शन और रहस्यवाद में यही मौलिक अन्तर है। इस प्रकार रहस्यवाद दर्शन और भक्ति-मार्ग दोनो से भिन्न है। संक्षेप में हम रहस्यवाद को ब्रह्म के आध्यात्मिक स्वरूप से आत्मा की भावात्मक ऐक्यानुभूति के इतिहास का प्रकाशन कह सकते हैं। 'अण्डरहिल' ने 'हण्ड्रेड पोइम्स ऑफ कबीर' की भूमिका में रहस्यवाद को 'Temperamental Reaction to the Vision of Reality" अर्थात् सत्य के प्रति भावात्मक प्रतिक्रिया कहा है। रहस्यानुभूति की स्थिति में पहुँचा हुआ साधक ब्रह्ममय हो जाता है। इसीलिए रहस्याभिव्यक्ति को दृष्टा की भविष्य-वाणी भी कहा जाता है। 'प्रसाद' ने भी रहस्यवाद को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा कहकर यह बात ध्वनित की है। रहस्यवाद के सम्बन्ध में इतना कहकर अब

हम उसके विविध तत्त्वों के प्रकाश में दोनो महाकवियो की रहस्य-भावना पर विचार करते हैं।

आस्तिकता—रहस्यवाद का सम्बन्ध उस रहस्यमय परोक्ष सत्ता से होता है। तभी तो रूडोल्फ' ने अपने Mysticim of East and West" में आस्तिकता को रहस्य-भावना की आधार-भूमि कहा है। जायसी और कबीर दोनो ही कट्टर आस्तिक हैं। इसमें किसी को सन्देह नही हो सकता। जायसी का 'पद्मावत' ईश्वर-वन्दना से ही प्रारम्भ हुआ है—

"सुमिरौ आदि एक करतारू।
जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू॥"

कबीर की तो प्रत्येक वानी से आस्तिकता टपकती है, उसे सिद्ध करने की तो आवश्यकता नही है। यहाँ तक कि नास्तिको का शून्य भी कबीर में आकर आस्तिक अद्वैतवादी गौड़पादाचार्य के शून्य स्वरूप ब्रह्म में तथा ईश्वर-विश्वासी योगियो के ब्रह्म रन्ध्र में परिणत हो गया है। इतना होते हुए भी दोनो की आस्तिकता में अन्तर है। जायसी की आस्तिकता विश्वास पर टिकी हुई है कबीर की प्रत्यक्षानुभूति पर। वे स्पष्ट कहते हैं—

"देख्या है तो कस कहूँ कहे तो पतियाय।
गूँगे केरी शर्करा बैठे ही मुसकाय॥"

जायसी बाशरा सूफी थे। उन्हें इस्लाम में कट्टर विश्वास था। इस्लाम में ईमान के अतिरिक्त प्रत्यक्षानुभूति के लिए कोई स्थान नही है। यही कारण है कि जायसी के रहस्यवाद में भावना और कल्पना की प्रधानता है कबीर में वास्तविकता की।

उपास्य स्वरूप—अब थोडा-सा दोनो कवियो के उपास्य स्वरूप का निरूपण कर लिया जाय। रहस्यवादी ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए अण्डरहिल' ने कहा है 'The absolutof the mystic is lov-

able attainable, alive and personal' अर्थात् रहस्यवादी का ब्रह्म प्रेम करने योग्य, प्राप्त करने योग्य, सजीव और व्यक्तिगत होता है उसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है—"The mystic consciousness is two fold being and becoming" अर्थात् रहस्यवादी की रहस्य-चेतना माया और ब्रह्म दोनों से विशिष्ट होती है। अतः स्पष्ट है कि रहस्यवादी का ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों ही होगा। यहाँ यह स्पष्ट कर देना असंगत नहीं है कि रहस्यवादी की सगुणता भक्त की सगुणता से थोड़ी भिन्न होती है। रहस्यवादी का सगुण ब्रह्म भावना-विनिर्मित होता है। उसे हम रहस्यवादी के अन्तर्जगत् का वह मूर्तिमान रूप मान सकते हैं जिसमें विश्व का कण-कण प्रकाशित है। भक्ति-मार्गी सगुणता केवल भक्त के हृदय में ही नहीं सारे विश्व के बीच में प्रत्यक्ष प्रतिष्ठित रहती है। यही दोनों में अन्तर है। कबीर और जायसी दोनों के ही उपास्य रहस्यवादी सगुणता और निर्गुणता में विशिष्ट हैं। दोनों ही तत्त्व रूप ब्रह्म में विश्वास करते हैं। दोनों ही शून्यवादी भी हैं। नूरवाद का प्रभाव भी दोनों पर पड़ा है। दोनों ही के उपास्य पुरुष रूप हैं। दोनों में उपास्य-सम्बन्धी इतना साम्य होते हुए भी कुछ मौलिक अन्तर भी है। एक की भावना समष्टिमूलक और विश्व-व्यापिनी है तो दूसरे की व्यष्टिमूलक और एकान्तिक। एक का पुरुष योगियों के पुरुष के समान *"सुन्नि मण्डल-वासी"* है, दूसरे का दिव्य सौन्दर्य और प्रेम विशिष्ट विराट्। कबीर की खोज एक योगी की खोज है। इसीलिए इसमें यौगिक नीरसता है। वह कहते हैं—

"कोई ऐसा न मिले सब विधि देइ बताय।
सुन्नि मण्डल में पुरुष एक ताही रहे ल्यौ लाय॥"

जायसी की भी खोज बिलकुल ऐसी ही है, किन्तु उसमें सूफी सरसता तथा सुकुमार भाव-प्रवणता है—

"चाहों ओहि कर दर्शन पावा. जो मोहि आनि प्रेम पथ लावा।"

उनकी इन प्रेम-भावना का उपास्य सौन्दर्यमय विराट् पुरुष है। कवि ने पद्मावती के रूप में यही दिव्य सौन्दर्यमयी विराट् भावना प्रतिष्ठित की है—

"नयन जो देखा कमल भा. निर्मल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा. दसन जोति नग हीर॥"

उपास्य की दिव्य सौन्दर्य-कल्पना ही रहस्यवाद का प्राण है इसी रहस्यवादी सौन्दर्य को दृष्टि में रखकर 'हीगेल' ने लिखा है "Beauty is the spiritual making itself known sensuously" अर्थात् सौन्दर्य आध्यात्मिकता का भावात्मक प्रकाशन है। इसी बात को प्लेटो ने दूसरे ढंग से कहा है—"I saw her shining there with the celestial" अर्थात् मैंने सौन्दर्य को दिव्यता के साथ प्रकाशित होते देखा है। जायसी ने इसी आध्यात्मिक दिव्य-सौन्दर्य को देखा था। सारी सृष्टि इस सौन्दर्य से सुन्दर है—

'बिकसा कुमुद देखि ससि रेखा. भई तहँ ओप जहाँ जोई देखा।
पावा रूप रूप जस चहा. ससि-मुख जनु दरपन होइ रहा॥"
नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥'
'बहुतै ज्योति ज्योति ओहि भई॥'

उनकी साधना का लक्ष्य भी उसी की प्राप्ति है—

"धाय जो बाजा कै मन साधा।
मारा चक्र भएहु दुइ आधा॥
चाँद सुरुज औ नखत तराहि।
तेहि डर अंतरिख फिरैं सबाई॥
पवन जाइ तहँ पहुँचे चहा।
मारा तैस लोटि भुइँ रहा॥"

कहना न होगा कबीर इस क्षेत्र मे जायसी से पिछड गए है। प्रथम तो वे इस दिव्य सौन्दर्य की भावात्मक अनुभूति ही नही कर सके है, जहाँ कही उन्होंने ऐसी चेष्टा भी की है वह सैद्धान्तिक आग्रह के कारण उतनी मधुर नही हो पाई है। अधिकतर वे सौन्दर्य को प्रकाश रूप ही कहकर रह गए है—

"कबीर तेज अनन्त का, मानो उगी सूरज सेणि।
पति सँग जागी सुन्दरी, कौतुक दाना तेणि॥"

जहाँ कही उन्होने सौन्दर्य-चित्रण करने का प्रयत्न भी किया है वे प्राय सिद्धान्त-प्रधान हो गए है—

"लाली मेरे लाल की, जित देखों तित लाल।
लाली देखन मे गई, मैं भी हो गई लाल॥"

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी का उपास्य कबीर के उपास्य की अपेक्षा अधिक भावात्मक, सरस, ग्राह्य और व्यक्तित्व-प्रधान है।

हम अभी सकेत कर चुके है कि रहस्य-भावना अनुभूति की वस्तु है। अत अब विचारणीय है कि अनुभवकर्ता कौन है। इस सम्बन्ध में दोनो रहस्यवादियो में मतैक्य है। वे आत्मा को अनुभवकर्ता और अनुभूति-तत्त्व दोनो ही मानते है। केवल अन्तर इतना ही है कि कबीर की अनुभूति विचार-प्रधान अधिक है और जायसी की भावना-प्रधान। कबीर आत्मा से आत्मा के विचारने की बात कहते है—

"आपै आप विचारिया, तब केत होय अनन्द रे।"

जायसी विचारने के स्थान पर साक्षात्कार की चर्चा करते है—

"आप पिछौने आपै आप।"

अनुभवकर्ता और अनुभूत तत्त्व—अब प्रश्न यह है कि एक ही आत्मा अनुभवकर्ता और और अनुभूत तत्त्व दोनो कैसे हो सकती है। इस

रहस्यवाद के दो भेदों की आलोचना—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने दो प्रकार का रहस्यवाद माना है । साधनात्मक और भावनात्मक । उन्होंने कबीर को प्रथम कोटि में रखा है और जायसी को दूसरी कोटि में । उनका यह भेदीकरण मुझे अधिक तर्कसंगत नही मालूम पडता । रहस्यानुभूति की दो प्रक्रियाएँ होती है । एक के सहारे साधक समस्त विश्व के प्रति एकात्मता का अनुभव करता है और दूसरी से उसे आत्मानुभूति होती है । पहली क्रिया बाह्यात्मक कही जा सकती है और दूसरी आन्तरिक । मैं इन्ही प्रक्रियाओ की विशेषता के आधार पर समस्त रहस्यवादियो को दो कोटियो में बाँटना पसन्द करूँगा—समष्टिमूलक अनुभूति-प्रधान और व्यष्टिमूलक अनुभूति-प्रधान । समष्टिमूलक अनुभूतियो में प्राय व्यष्टि में समष्टि का आरोप होता है यह आरोप भावना-प्रधान, साधना-प्रधान तथा बुद्धि-प्रधान तीन प्रकार का हो सकता है । जायसी में भावना-प्रधान आरोप मिलते है । उपनिषदो में आरोप बुद्धिमूलक है । योगियो में यह आरोप साधना-क्षेत्र में दिखलाई पडता है । कबीर की '*जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे जान*' वाली उक्ति इस बात को स्पष्ट करती है । व्यष्टिमूलक अनुभूतियाँ अधिकतर भक्ति और योग-क्षेत्र में पाई जाती है । इस दृष्टि से जायसी प्रथम प्रकार के और कबीर दूसरे प्रकार के रहस्यवादी ठहरते है ।

प्रेम-तत्त्व —अभी इस रहस्यवाद को आत्मा की परमात्मा के प्रति अनुभव की हुई भावात्मक ऐक्यानुभूति के इतिहास का प्रकाशन कह चुके हैं । सस्कृत में भाव का अर्थ प्रेम भी होता है । कालिदास ने 'कुमार सम्भव' में '*न वेत्सि भावस्थम् जनम्*' कहकर इसका इसी अर्थ में प्रयोग किया है । भावात्मकता रहस्यवाद का प्रधान तत्त्व है । कबीर और जायसी दोनो ने इसे महत्त्व दिया है । कबीर ने साधना में इसके अत्यधिक महत्त्व को प्रकट करने के लिए इसे काम के नाम से अभिहित किया है—

"काम मिलावै राम सूँ जो कोई जानै राख ।"

जायसी इस दिशा में मंसूर हल्लाज के अनुयायी हैं—

"प्रेम पहार कठिन विधि गाढ़ा।
सो पै चढ़ै जो सिर सौं चाढा॥
पंथ सूरि का उठा अंकूरू।
चोर चढ़े कि चढ़े मंसूरू॥"

कबीर नारदी भक्ति में विश्वास करते थे—

"भगति नारदी हिर्दै न आई।
काछि कूछि तन दीना॥"

नारद ने भक्ति में प्रेम को विशेष महत्त्व दिया है। भक्ति की परिभाषा देते हुए उन्होंने लिखा है *'सात्वस्मिन परम प्रेमरूपा'* अर्थात् भक्ति ईश्वर के प्रति की हुई अनन्य प्रेमासक्ति है। कबीर की इस नारदी भक्ति का प्रभाव उनके प्रेम-तत्त्व पर पड़ा है। वे स्पष्ट कहते हैं—

"प्रेम भगति हिंडोलना जँह झूलै आतमराम।"

उनका यह भक्तिमूलक प्रेम सूफियो के प्रेमासव से भी सराबोर है—

"हरि रस पीया जानिए जो कबहु न जाय खुमार।"

जायसी का प्रेम तत्व सर्वथा सूफी है। उसमें सूफी मादकता, कोमलता, भाव-प्रवणता सभी कुछ विद्यमान है—

"सुनि धान प्रेम सुरा के पिए।
मरन जियन डर रहै न हिए॥
जेहि मद तेहि कहाँ संसारा।
को सो घूमि रह की मतवारा॥
सो पै जान पिए जो कोई।
पी न अघाय जात पर सोई॥"

वह अत्यन्त पवित्र भी है। उसीको संकेतित करके जायसी ने लिखा है *'परिमल प्रेम न आछे छपा।'* शाश्वतता और दिव्यता उसकी अन्य विशेषताएँ है—

"प्रेम सुनत मन भूल न राजा।
कठिन प्रेम सिर देइ तो छाजा॥
प्रेम फाँद जो परा न छूटा।
जिउ जाइ पै फाँद न टूटा॥"

विरह इस प्रेम का सौन्दर्य है। दोनो में अन्योन्याश्रय भाव माना जाता है। तभी तो जायसी ने लिखा है —

"प्रीति बेलि सँग है विरह अपारा।"

इनके इसी विरह विशिष्ट विराट् प्रेम से सारी सृष्टि भयभीत है —

"मुहम्मद चिनगी प्रेम की सुनि महि गगन डेराय।
धनि विरही औ धनि हिया जहँ अस अगिनि समाय॥"

गुरु—जायसी और कबीर के प्रेम भाव में एक और अन्तर है। जायसी का प्रेम रूप-लिप्सा-जनित है और कबीर का संस्कार-मूलक। जायसी के रत्नसेन, पद्मावती रूपी विराट् ब्रह्म के दिव्य सौन्दर्य का सुए रूपी गुरु से वर्णन सुनकर विह्वल हो जाते हैं —

सुनतहिं राजा गा मुरझाई। मानो लहर सुरुज कहि आई॥"

कबीर में इस प्रकार की रूप-लिप्सा का एक प्रकार से अभाव है। उनका प्रेम-भाव *'कुछ करनी कुछ करमगत कुछ पूरबला लेख'* का परिणाम है। यह प्रेम-तत्व जायसी और कबीर दोनो को अपने गुरु से प्राप्त होता है। एक को प्रेम के रूप में और दूसरे को विरह-तत्व के रूप में। कबीर कहते है *'गुरु ने प्रेम का अक पढ़ाय दिया रे'* इसीको जायसी ने दूसरे ढग से कहा है —

"गुरु विरह चिनगी जो मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला।"

रहस्यवाद की अवस्थाएँ —इस प्रेममूलक रहस्यानुभूति के कई स्तर और सोपान हो सकते है। इसी बात को ध्यान में रखकर आञ्जल

महिला 'अण्डरहिल' ने रहस्य साधना और अनुभूति की पाँच अवस्थाएँ मानी हैं, वे क्रमश इस प्रकार हैं —

(१) आत्मा की जाग्रतावस्था (Awakening of the self for absolute) —यह ब्रह्म-जिज्ञासा की स्थिति है। इसी स्थिति को प्राप्त करके साधक ईश्वरानुभूति के लिए तड़प उठता है। वेदान्त में इसे आत्मनात्म-विवेक कहते हैं। इस स्थिति की अन्तिम अवस्था में साधक ज्ञान और वैराग्य की ओर उन्मुख होने लगता है।

(२) आत्मा के परिष्करण की स्थिति (Purification of the self) —इसे हम रहस्यवाद का साधना पक्ष कह सकते हैं। इसी स्थिति में आकर रहस्यवादी विविध प्रकार की साधनाओं में संलग्न होता है।

(३) आत्मा की आंशिक अनुभूति की स्थिति (Illumination of the self) —इस स्थिति में पहुँचकर साधक विविध प्रकार की ध्वनियाँ सुनता है और विचित्र प्रकार के दृश्य देखने लगता है।

(४) रहस्यानुभूति के विघ्नों की अवस्था (The dark night of the soul) :—इस स्थिति में पहुँच कर साधक की आंशिक ईश्वरानुभूति में बहुत-सी बाधाएँ उत्पन्न होने लगती हैं। साधक को इनसे युद्ध करना पड़ता है।

(५) तादात्म्य की स्थिति (Unity of the soul) —यह आत्मा और परमात्मा के भावात्मक साक्षात्कार की स्थिति है।

जाग्रतावस्था—जहाँ तक प्रथम स्थिति का सम्बन्ध है वह कबीर और जायसी में समान रूप से पाई जाती है। दोनों में तीव्र प्रियतम-जिज्ञासा है। दोनों में ही मिलन के लिए एक विचित्र तड़पन है। इसी तड़पन के फलस्वरूप एक ज्ञानोन्मुख हो उठता है, और दूसरा वैराग्य का मार्ग ग्रहण करता है। जायसी ने रत्नसेन रूपी साधक को सौन्दर्य-

भावना से विभोर चित्रित किया है। क्षण-भर के लिए वह दिव्य सौन्दर्य में तन्मय हो जाता है उस तन्मयता की स्थिति से जगने पर उसे सारा संसार नीरस और शून्य दिखलाई पड़ने लगता है। उसमें तीव्र विराग भाव जाग उठता है —

"जब भा चेत उठा बैरागा। बाउर जनौ सोइ उठ जागा॥"

कबीर में जायसी के इस विराग भाव को बहुत अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। वह वैराग्य को ज्ञान-प्राप्ति का एक साधन-मात्र मानते हैं, साध्य नहीं। उन्होंने स्पष्ट घोषित किया है—

'कबीर जाग्याहि चाहिए क्या घर क्या बैराग।'

आत्म-परिष्करण— दूसरी स्थिति आत्म-परिष्करण की है ज्ञान और वैराग्य के उदय के पश्चात् साधक एक ओर तो विरह से व्यथित होने लगता है और दूसरी ओर उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नवान भी। जहाँ तक विरह का सम्बन्ध है कबीर और जायसी दोनों ही ने उसे विशेष महत्त्व दिया है। दोनों में ही वह एक अध्यात्म तत्त्व के रूप में निरूपित किया गया है, किन्तु उसकी प्रेरणाएँ थोडी भिन्न-भिन्न हैं। जायसी पर सूफियो का प्रभाव था, किन्तु कबीर सूफी मत और भक्ति-मार्ग दोनो से प्रभावित थे। भक्ति-क्षेत्र में नारद ने अपने भक्ति-सूत्र में ११ आसक्तियो में विरहासक्ति को भी विशेष महत्त्व दिया है। कबीर की विरह-भावना भक्तों और सूफियों दोनों से प्रभावित है। कभी तो वह भक्तो के समान कहते हैं *"जिन परगोविन्द बीछुड़े तिनको कौन हवाल"* और कभी सूफियो की भाव-प्रवणता लेकर वे लिखते हैं—

"अँखड़िया प्रेम कसाइयाँ लोग जाने दूखड़िया।
साइँ अपने कारणें रोइ रोइ रातड़िया॥"

जायसी की विरह भावना कबीर की अपेक्षा अधिक सरस कोमल भाव मय और व्यापक है। वह उसको समान व्यष्टिमूलक और एकान्तिक न

होकर समष्टिमूलक एवं विश्व-व्यापिनी है। जायसी की इस विरह-व्यथा से सारा विश्व विधुर और व्यथित है, प्रकृति के सारे पदार्थ इस व्यथा से विह्वल होकर उस तक पहुँचने की चेष्टा करते हैं—

"धाय जो बाजा कै मन साधा।
मारा चक्र भयउ दुइ आधा॥
चाँद सुरज औ नखत तराईं।
तेहि डर अन्तरिख फिरहिं सबाई॥
पवन जाहि तहँ पहुँचै चहा।
मारा तस लोटि भुइँ रहा॥"

कबीर और जायसी में विभिन्न साधना का भी संकेत मिलता है। जायसी सूफी थे उनमें हमें सूफी साधना के तत्व प्रतिध्वनित मिलते हैं। सूफी साधना में साधक को चार पड़ाव और सात मुका-मात से होकर गुजरना पड़ता है—शरियत, तरीकत, हकीकत और मारि-फत यह चार पड़ाव हैं। सात मुकामात नैतिक आचरण के सात तत्त्व कहे जा सकते हैं। 'किताब उल्लुमअ' से उद्धृत करते प्रो० निकल्सन ने उन अवस्थाओं के नाम क्रमशः पश्चात्ताप, वैराग्य, त्याग, दीनता, धैर्य, ईश्वर विश्वास और संतोष दिए हैं। इस नैतिक परिष्करण के पश्चात् सूफी हाल की स्थिति को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। हाल की स्थिति को हम भावातिरेकता की चरम सीमा मान सकते हैं। यही ईश्वर-प्राप्ति का सरलतम मार्ग है। निकल्सन ने लिखा है—

"Ecstacy in the only means by which soul can directly Communicate" अर्थात् भावातिरेकता की एक ऐसी स्थिति है जिसके सहारे आत्मा सरलता से परमात्मा के साथ ऐक्य स्थापित कर सकती है। रहस्यवादी साधना का प्राण यही भावा-तिरेकता की स्थिति है। जायसी और कबीर दोनो ही इस भावातिरेकता की स्थिति के महत्व को स्वीकार करते हैं। जायसी उसकी प्राप्ति 'चार

बसेरे सो चढ़ै सत सो उतरे पार' कहकर सूफी साधना द्वारा ध्वनित करते है। कबीर ज्ञान, वैराग्य और योग में विश्वास करते थे। उनकी ज्ञानप्रियता कभी-कभी सिद्धान्त-वाक्यो के रूप में प्रस्फुटित ही निकली है। जैसे—

"जल में कुम्भ कुम्भ मे जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तत् कथ्यो गियानी ॥"

कभी-कभी वे साधना पक्ष में शुष्क हठयोग की चर्चा भी करने लगते है —

"धोती नेति बसती लाओ।
आसन परम जुगति करवाओ ॥
पहिले मूल सुधार कार्य हो सारा ॥"

इतना सब होते हुए कबीर की भावना अधिकतर प्रेम और माधुर्य का आश्रय लेकर चली है। उनका राम-रस ही प्रेम-रस है। उसीमें वह निमग्न रहते हैं —

"छाक परयो आतम मतवारा।
पीवत रामरस औ करत विचारा ॥"

ध्यान में देने की बात है कि ऐसे स्थलो पर भी वे अपनी विचारात्मकता से पिण्ड नही छुडा सके हैं। दोनो रहस्यवादियो के साधना सम्बन्धी इसी भेद को लक्ष्य करके श्यामसुन्दरदास जी ने कबीर के रहस्यवाद को दार्शनिक और जायसी के रहस्यवाद को भाव-प्रधान कहा है। आचार्य शुक्ल सत रहस्यवाद के आध्यात्मिक और भावात्मक भेद इसी आधार पर किये जान पडते है।

आंशिक अनुभूति—विरह-व्यथित साधक इस प्रकार साधना करते हुए प्रियतम की आंशिक अनुभूति में समर्थ होने लगता है। यह रहस्यवाद की तीसरी स्थिति है। जायसी और कबीर दोनो में इस अवस्था

के वर्णन मिलते है। कबीर ईश्वर की यह आधिक अनुभूति करके हर्ष से नाच उठते है—

"जानी जानी रे राजा राम की कहानी।"

जायसी में इस स्थिति का वर्णन सूफी सुकुमारता के साथ किया गया है—

"आवत जग बालक जस रोवा।
उठा रोई हा ज्ञान जो खोवा॥
हौं तो उहा अमर पुर अहा।
इहाँ मरनपुर आएउ कहाँ॥"

रहस्यानुभूति की इसी स्थिति में पहुँचे हुए साधकों में उस प्रियतम के लोक की मधुमयी कल्पना विविध रूपो मे मिलती है। जायसी और कबीर दोनो ने ही लगभग समान शब्दों में उस लोक का भावात्मक संकेत किया है। जायसी कहते हैं—

जहाँ न राति न दिवस है जहाँ न पौन न पानि।
तेहि बन सुअटा चल बसा कौन मिलावै आनि॥"

कबीर इस बात को इस प्रकार कहते है—

"जरा मरण व्यापै नहीं, मुवा ना सुनिए कोय।
चलि कबीर तेहि देसिडे, जँह वैद विधाता होय॥"

जायसी की अपेक्षा कबीर में हम इस मधुमयी कल्पना की अभिव्यक्ति अधिक सुन्दर रूप मे पाते है। एक स्थल पर वे कहते हैं—

"नहरवा हमको नहि भावै।
साईं की नगरी परम अति सुन्दर
जहँ कोई आवै न जावै॥"

'अण्डरहिल' ने इसी आत्मिक अनुभूति की स्थिति में विविध ध्वनियों के श्रवण और आत्मिक दृश्यो के दर्शन की चर्चा की है। भारतीय

उपनिषदों में आंशिक अनुभतिमूलक, अनेक विचित्र ध्वनियो और दृश्यो के वर्णन मिलते हैं। जायसी और कबीर दोनो ही भारत के रहस्यवादी थे। अतएव प्रायमिक अनुभूति की इन विचित्र ध्वनियो और दृश्यो के संकेत दोनो में मिलते हैं। किन्तु कबीर में जायसी की अपेक्षा इनकी अधिकता है। इसके दो कारण हो सकते हैं। प्रथम तो यह है कि कबीर पर उपनिषदो का प्रभाव अधिक पड़ा था। अत सम्भव है कि इसका उन पर कोई मनोवैज्ञानिक प्रभाव हो। दूसरा कारण यह था कि कबीर की साधना व्यष्टिमूलक और यौगिक थी। इस कोटि की अनुभूतियाँ व्यष्टि-साधना के मार्ग मे ही सम्भव होती हैं जायसी में भी जहाँ कही हठयौगिक व्यष्टिमूलक वर्णन मिलते है, वहाँ इस प्रकार की अनुभूतियाँ भी व्यक्त की गई हैं :—

"दसम दुआर ताल कै लेखा।
उलटि दिस्टि लावा सो देखा॥"

और भी देखिए—

'नव पौरि पर दसम दुआरा। तेहि पर बाज राज घरियारा॥' किन्तु ऐसे स्थल कबीर की अपेक्षा जायसी में बहुत कम हैं। कबीर की सारी रचनाएं इस प्रकार की अनुभूतियो से भरी पड़ी हैं। कही तो वे कहते हैं *'कमल जो फूले जलह बिन,'* कही पर प्रेम के विचित्र हिंडोले का वर्णन करते हैं, कहीं पर *'गगनगरज अमृत चुवे'* की चर्चा करते हैं।

विघ्न की अवस्था—इस प्रकार की यह आंशिक रहस्यानुभूतियाँ अधिक देर नहीं टिकने पाती। इन अनुभूतियो के मार्ग में अनेक विघ्न आने लगते हैं। यह साधक की परीक्षा का अवसर होता है। इस लिए इस स्थिति को अण्डरहिल ने Dark night of the soul कहा है। इसी स्थिति के अनुसार उन तमाम विकारो के वर्णन आते हैं जो ईश्वरानुभूति में बाधक होते हैं। यद्यपि जायसी ने भी इन विकारों का संकेत किया है किन्तु कबीर ने इससे सम्बन्धित वर्णनो की भरमार

की हैं। जायसी सूफी थे और कबीर भारतीय मायावादी। सूफी लोग शैतान को साधना में बाधक के रूप में मानते हैं। सूफियों के शैतान की यह कल्पना जायसी को मान्य थी। राघव चेतन को उन्होंने शैतान के रूप में ही कल्पित किया है। अन्योक्ति बांधते समय उन्होंने कहा भी है—'*राघव चेतन सोई शैतान*'। कबीर ने सूफियों की इस कल्पना को नहीं अपनाया है। वे वेदान्त के मायावाद से प्रभावित हैं। माया का परिवार बहुत लम्बा-चौड़ा है। कबीर ने इसका जगह-जगह पर उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने माया का वर्णन रूपकों के सहारे भी किया है। ऐसे स्थानों पर मायामूलक रहस्य भावना मधुर हो उठी है। माया रूपी डायन का वर्णन देखिए कितना भावात्मक और दार्शनिक है—

"एक डायन मेरे मन बसै। नित उठ मेरे जिय को डसै॥
ता डायन के लरिका पाँच रे। नित उठ मोहि नचावहि नाच रे॥"

यही डायन माया ही तो रहस्यानुभूति में बाधक रूप है—

"मुख कड़ियाली कुमति की कहन न देइ राम।"

मिलन की अवस्था.—सच्चा साधक माया के इन तमाम विकारों पर शीघ्र विजय प्राप्त कर लेता है। इसीके पश्चात् उसका प्रियतम से साक्षात्कार होता है। इसी साक्षात्कार की स्थिति को 'अण्डरहिल' ने तादात्म्य की स्थिति (Unitive life) नामक रहस्यवाद की पाँचवी अवस्था कहा है। सूफियों की हाल की दशा भावात्मक मिलन की ही दशा है। इसके सूफियों ने दो पक्ष माने हैं—त्याग पक्ष और प्राप्ति पक्ष। त्याग पक्ष की भी दो स्थितियाँ होती हैं—(१) फना अर्थात् अपनी जगह की प्रतीति से परे हो जाना (२) फकद अर्थात अहं भाव का नाश होना। इसी प्रकार प्राप्ति पक्ष की भी तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं। वे क्रमशः वका (परमात्मा में स्थिति), वज्द (परमात्मा की प्राप्ति), और शहूद (पूर्ण शांति की स्थिति) है। कहना न होगा कि 'हाल' को

पाँचो अवस्थाएँ मिलन की ही विविध स्थितियाँ और अनुभूतियाँ हैं। कवीर और जायसी और दोनो में मिलन पक्ष के सुन्दर रहस्यात्मक चित्रण मिलते है। कही-कही दोनो के भाव-चित्रण में वडा साम्य दिखलाई पडता है। मिलन के पूर्व मधुमयी अनुभूतियो का वर्णन दोनो ही समान भावना मे प्रारम्भ करते है। किन्तु कवीर की भावना आगे चल कर अधिक आध्यात्मिक हो जाती है—

"थरहर कम्पे वाला जीव।
न जाने क्या करसी पीव॥
रैनि गई मत दिन भा जाय।
भवर गए वग वठे आय॥"

इसके विपरीत जायसी इस भावना को इतना सरस वना देते है कि उसमें लौकिकता का आभास होने लगता है। उनकी उक्ति देखिए—

"अन चिन पिउ कापै मन मॉहा का मैं कव गहव जो वाहा
वारि वैस गई प्रीति न जानी, जुवा भई मैमंत भुलानी
जोवन गरव न मैं किछु चेता, ·ह कि जानों साम भी सेता'

इसके पश्चात् प्रत्यक्ष साक्षात्कार की स्थिति आती है। दोनो कवियो ने इस स्थिति के रमणीय चित्र प्रस्तुत किये है। किन्तु दोनो के चित्रो में अन्तर है एक के चित्र सूफी इब्नासिना के सौन्दर्यवाद और सहूदिया वर्ग के सूफियो के प्रतिविम्ववाद से अनुप्राणित है। दूसरो की भावना पर भारतीय भक्ति मार्ग और उपनिषदो का प्रभाव है। जायसी के साक्षात्कार की स्थिति के चित्रो में एक विचित्र रमणीयता है एक अनिर्वचनीय आनन्द भरा हुआ है

"देखि मानसर रूप सुहावा, हिय हुलास पुरइन होई छावा।
गा अँधियार रैनि मसि छूटी, भा भिनसार किरन रवि फूटी।
अस्ति अस्ति सव साथी वोले, अन्ध जो अहै नैंन विधि खोले।"

साक्षात्कार का दूसरा चित्र इससे भी अधिक मनोरम है—

इसी साक्षात्कार के अन्तर्गत सयोगजनित विविध लीलाएँ और क्रीडाए आती है। जायसी और कबीर दोनो ने इनके मधुमय चित्र चित्रित किये है। किन्तु जायसी के चित्रो में कबीर की अपेक्षा लौकिकता का स्पर्श अधिक है। पद्मावती का सयोग-वर्णन बहुत अधिक शृंगारिक हो गया है। इस दृष्टि से कबीर अधिक मधुर और रहस्यात्मक है। उदाहरण के लिए उनका प्रसिद्ध पद देखिए—

'घूँघट का पट खोल री तोको पीव मिलेंगे।'

इस पद में माधुर्य के साथ-साथ माया के आवरण को विदीर्ण करके प्रियतम से मिलने का आध्यात्मिक सकेत भी है। यही आध्यत्मिकता कबीर के रहस्यवाद की प्रमुख विशेषता है। इस क्षेत्र में वे जायसी से कही अधिक बढे हुए है।

साक्षात्कार के बाद मिलन की वही मधुर स्थिति आती है जब साधक रूपासव का पान करके मूक हो जाता है। इसी स्थिति को दृष्टि में रखकर 'निकल्सन' सूफी रहस्यवाद के सम्बन्ध में लिखते है। *"जो ईश्वर को जानता है वह मौन हो जाता है।"* गीता में भी यही कहा है कि सच्चा मुनि वही है जो मौनी है। इस स्थिति को लक्ष्य करके कबीर ने लिखा है—

"देखा है तो कस कहूँ, कहूँ सो को पतयाय।
गूँगे केरी शर्करा बैठे ही मुसकाय॥"

इसी स्थिति का सकेत जायसी ने निम्नलिखित शब्दो में किया है। इसमें जायसी की तीव्र अनुभूति भरी है—

"सुनि धनि प्रेम सुरा के पिए, जियब मरन डर रहे न हिए।"

भारतीय रहस्यवाद का प्राण अद्वैतवाद है। जीव माया के आवरण को ज्ञान के सहारे विदीर्ण करके आत्मा से नीर-क्षीर की तरह एक हो जाता है। यही मोक्ष की चरम स्थिति है। 'उपनिषदो' ने *'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'* लिखकर यही बात ध्वनित की है। भारतीय रहस्यवादी

का लक्ष्य भी इसी स्थिति को प्रेरित करना होता है। वह तीव्र भावना के सहारे इस दिशा में अग्रसर होता है। विश्व के अन्य रहस्यवादियों से यही भारतीय रहस्यवाद की विशेषता है। 'अण्डरहिल' ने भी भारतीय रहस्यवादी की यह विशेषता स्वीकार की है। यहाँ उनके शब्द, को उद्धृत कर देना अनुपयुक्त न होगा—

"It is right however to state here that Oriental Mysticism insisted upon a further stage beyond that of union. This is the total annihilation or reabsorption of individual self in the infinite."

अर्थात् 'भारतीय रहस्यवादी मिलन के आगे की स्थिति को प्राप्त होता है। यह पूर्ण तादात्म्य की अवस्था है।' जहाँ तक सूफियों का सम्बन्ध है यह स्थिति अधिकतर उनमें नहीं पाई जाती है। प्रो० निकलसन ने 'Idea of personality in Sufism' नामक ग्रंथ में इस बात को सिद्ध भी कर दिया है। जायसी सूफी थे। अतः उनमें इस स्थिति के चित्र नहीं दिखाई देते। कबीर पर भारतीय अद्वैत वेदान्त का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था इसीलिए उनमें इस स्थिति के चित्र अधिक पाए जाते हैं। इसी स्थिति में पहुँचकर वे कह उठते हैं :—

'हरि मरिहैं तो हमहु मरि हैं, हरि न मरैं हम काहे को मरैं

अभिव्यक्ति—यह तो हुआ रहस्य-भावना का तुलनात्मक निरूपण। अब थोड़ा-सा दोनो की रहस्याभिव्यक्ति अलौकिक आनन्द की तीव्रतम अनुभूति कही जा सकती है। इस अलौकिक आनन्द को शब्द में सीमित करना बहुत कठिन हो जाता है। इसीलिए रहस्यवादी को विविध सहायक अभिव्यक्ति-प्रणालियो की शरण लेनी पड़ती है। इन अभिव्यक्ति प्रणालियों में प्रतीक-पद्धति, रूपक-योजना, समासोक्ति, अन्योक्तियाँ और उलटवासी आदि प्रमुख रूप से आती है। जायसी और

कबीर की रहस्याभिव्यक्ति-प्रणालियो मे भी अन्तर है। जायसी ने असफल अन्योक्ति तथा सफल समासोक्ति के सहारे अपने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की। इसके अतिरिक्त प्रतीकात्मकता का भी सुन्दर प्रयोग उनमें मिलता है। उनकी पद्मावत की कहानी एक प्रकार से प्रतीकात्मक रूपक कही जा सकती है। प्रतीक पद्धति का कबीर ने भी अनुकरण किया है। इसके प्रमाण स्वरूप उनकी *'हरि मेरा पीव मैं राम की बहुरिया'* *'हरि जननी मैं बालक तोरा'* उक्तियाँ ली जा सकती है। किन्तु इसमें कबीर की वृत्ति रमती हुई नही दिखाई देती। इसीलिए उन्होने अधिकतर रूपको और उलटवासियो का आश्रय लिया है। उन्होने अन्योक्तियो का भी प्रयोग किया है किन्तु जायसी के ढग पर नही। उनकी उक्तियाँ पद्मावत के समान विशाल रूप में नही व्यक्त हुई है। वे अत्यन्त सरल सक्षिप्त और सकेतात्मक है। एक उदाहरण देखिए—

"माली आवत देखकर कलियाँ करें पुकार।
फूले फूले चुन लिए काल्हि हमारी बार॥"

कबीर के रूपक बहुत प्रसिद्ध है किन्तु आध्यात्मिकता के कारण जटिल अधिक हो गए है। 'सत कबीर' में दिये हुए इनके रूपक विशेष दृष्टव्य हैं। रूपको के अतिरिक्त उलटवासियाँ भी अध्ययन करने योग्य है। उलटवासियो की परम्परा वैदिक काल से चली आ रही है। वेद में दिया हुआ अदिति का वर्णन उलटवासी के रूप में ही है। सिद्धो और नाथो में तो यह पद्धति विशेष रूप से प्रचलित थी। सूफियो में भी ऐसी अभिव्यक्तियो की कमी नही है। इस प्रकार कबीर को इस क्षेत्र में एक लम्बी-चौडी परम्परा प्राप्त हुई थी। उसका उन्होने अपनी रहस्याभिव्यक्ति में उपयोग किया है। कबीर में उलटवासियो के अधिक प्रयोग का कारण उनकी गूढ आध्यात्मिकता भी है अध्यात्म-क्षेत्र में शिष्य का पात्रत्व और ब्रह्म-जिज्ञासा अत्यन्त आवश्यक होती है। इसलिए 'ब्रह्मसूत्र' का प्रारम्भ *'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'*

से हुआ है। कबीर ने अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तो को उलटवासियो के रूप में इसीलिए व्यक्त किया है कि केवल जिज्ञासु पात्र ही उन्हें समझ सकें। उलटवासियो के अतिरिक्त कबीर में कुछ ऐसी रहस्यात्मक उक्तियाँ भी पाई जाती है जिनमे पारिभाषिक शब्दो के सहारे जटिलता और अस्पष्टतामूलक रहस्य व्यक्त करने की चेष्टा की गई है। उनकी इस प्रकार की उक्तियाँ भी तीन प्रकार की है। एक तो वह है जिनमें सिद्धो और नाथ पंथियो में प्रचलित पारिभाषिक शब्दों को लेकर यौगिक रहस्य निर्देशित किये गए है जैसे यह उक्ति देखिए—

"सुरति समानी निरति में निरति रही निरधार।
सुरत निरत परचा भया तब खूले स्यम्भ दुआर॥"

दूसरे प्रकार की वे उक्तिया है जिनमें संख्यावाचक सांकेतिक शब्दों का प्रयोग करके रहस्यात्मकता लाने की चेष्टा की गई है। जैसे—

"चौंसठ दीवा जोइकर चौदह चन्दा माहिं।
तेहि घर किसको चानिणो जेहि घर गोविन्द नाहिं॥"

तीसरे प्रकार की उक्तियो में उन्होंने आश्चर्यजनक बातो का वर्णन कर रहस्यपूर्ण तथ्यो की ओर संकेत किया है—

'ज्ञान अचेत फिरे नर लोइ ताथे जनम जनम उहकाये।
घोल मट लिया बैला धावी कउवा ताल बजावै।
पहरि चोलना गदहा नाचै भैंसा नरति करावै॥"

यह तीनो प्रकार की उक्तियाँ अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के अन्तर्गत आयगी। इने मैं शैलीगत नकली रहस्यवाद मानता हूँ। जायसी ने इस प्रकार की उक्तिया बहुत कम दी है। हाँ इतना अवश्य है कि उन्होंने कहीं योग के पारिभाषिक शब्दो की अच्छी योजना की है। कहीं-कहीं झूठे श्लेष का भी प्रयोग किया है। ऐसे स्थलों से जायसी का

मूल्य घट गया है। किन्तु उनमें ऐसे स्थल कबीर की अपेक्षा बहुत कम है।

लोक संग्रह :—मध्यकालीन सतो की रहस्य-भावना का विश्वलेषण करते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मेडिवल मिस्टिसिज्म' मे लिखा है। 'They have ascetie aversion to life' अर्थात् उन्हें जीवन के प्रति विरागमयी उदासीनता का अनुभव नही होता है। कबीर जायसी दोनो में इस विशेषता के दर्शन होते है। जायसी ने रत्नसेन के जीवन के सहारे यह बात ध्वनित की है। रत्नसेन जीवन से उदासीन होता है नही, किन्तु पद्मावती को प्राप्त करके वह पुन मधुमय जीवन का अनुभव करता है। कबीर को लोग पूरा वैरागी समझते है, किन्तु वैराग उनके लिए कभी साध्य न था। वे उसे साधन-मात्र समझते थे। उनका उपदेशक रूप निर्विवाद है। लोक-सग्रह करना वे ईश्वर प्रेरित अपना कर्तव्य समझते थे—

"साईं यहै विचारिया साखी कहै कबीर।
भवसागर के बीच में कोई पकड़े तीर॥"

अत स्पष्ट है कि कबीर भी कोरे वैरागी नही थे। उनमें भी लोक-सग्रह की भावना थी। उनका रहस्यवाद उससे अछूता नही बचा है।

निष्कर्ष —इस प्रकार हम कह सकते है कि जायसी और कबीर हिन्दी-साहित्य के श्रेष्ठ रहस्यवादी कवि है। एक का रहस्यवाद भारतीय भक्ति-मार्ग, श्रुति-ग्रन्थ, सिद्धमत और नाथ-सम्प्रदाय से प्रभावित होने के कारण आध्यात्मिकता, एकान्तिक, व्यष्टिमूलक सजीव और वर्णनात्मक है दूसरे का सूफी साधना और भावना से अनुप्राणित होने के कारण अत्यन्त सरस, सकेतात्मक और समष्टिमूलक है। वह प्रेमाख्यान के सहारे अभिव्यक्त होने के कारण मधुर और नाटकीय भी है।